पूर्ण था वह एक क्षण का आलिङ्गन! कितने सन्तोष से भरा था! नियति ने अज्ञात भाव से मानों लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन में सायंकालीन शीतल आकाश से मिला दिया हो।" वस्तुतः ध्रुवस्वामिनी का जीवन इतना घटना और संघर्ष-पूर्ण है कि नाटकीय कथावस्तु के अन्तर्गत उसके मधुर भाव की अभिव्यक्ति के अधिक अवसर ही नहीं प्राप्त होते। फिर भी नाटककार ने उसके ओजस्वी व्यक्तित्व में उसके हृदय के मधुर पक्ष की भी एक झांकी प्रस्तुत की है जिसके कारण उसका नारीत्व प्रकृत रूप में व्यक्त होगया है। ध्रुवस्वामिनी के चरित्र विकास में पूर्ण स्वाभाविकता है। नाटककार को उसमें पूर्ण सफलता मिली है।

मन्दाकिनी

मन्दाकिनी 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की एक सामान्य स्त्री-पात्र है। किन्तु वह अपनी न्याय-बुद्धि, निर्भीकता एवं कार्य-कुशलता से नाटक में महत्वपूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त करती है। 'न्याय का दुर्बल पक्ष ग्रहण' करने के लिए ही वह राजनीतिक प्रपञ्चों में पड़ती है। उसमें उसका कोई निजी स्वार्थ नहीं है। इससे उसके स्वभाव की निस्पृहता भी व्यक्त होती है।

. नाटक के आरम्भ में ही मन्दाकिनी गूँगी (खड्गधारिणी) का अभिनय अत्यन्त कुशलता के साथ सम्पन्न कर चन्द्रगुप्त के प्रति ध्रुवस्वामिनी के अन्तःस्थित भाव को अवगत कर लेती है। इतना ही नहीं, वरन् वह कुमार के प्रति ध्रुवस्वामिनी के म्रियमाण स्नेह को सचेष्ट भी करती है, और उनके प्रति उसकी सहानुभूति और उत्सुकता सजग करती है। मन्दाकिनी द्वारा कुमार की मानसिक ग्लानि एवं वेदना तथा शारीरिक परवशता का समाचार अवगत कर ध्रुवस्वामिनी हठात् कह बैठती है—"किन्तु उन्हें कोई ऐसा साहस का काम न करना चाहिए जिसमें उनकी परिस्थिति और भी भयानक हो जाय।" ध्रुवस्वामिनी के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति इस प्रकार ममत्वपूर्ण सहानुभूति उत्पन्न करने से मन्दाकिनी की उत्कृष्ट कार्यकुशलता का परिचय मिलता है।

मन्दाकिनी अपने निर्मल विवेक द्वारा व्यक्तियों तथा परिस्थितियों की वास्तविकता यथार्थ रूप से शीघ्र ही अवगत कर लेती है। कुमार चन्द्रगुप्त और रामगुप्त को अपने अन्तःचक्षु से परखती हुई वह स्वगत रूप से यथार्थ ही कहती है—'कुमार चन्द्रगुप्त! कितना समर्पण का भाव है उसमें? और उसका बड़ा भाई रामगुप्त कपटाचारी रामगुप्त! ....'' इस प्रकार

मन्दाकिनी परिस्थितियों का यथार्थ रूप से अनुभव कर कृत-
होती है—"मुझे हृदय कठोर करके अपना कर्त्तव्य करने के
यहाँ रुकना होगा।" वह अपनी निर्भीकता एवं कार्यकुशलता
अपना सङ्कल्प पूरा करने में पूर्ण सफल होती है। उसके
से न्याय का पक्ष विजयी होता है। गुप्त-कुल का पवित्र
सिंहासन उसके वास्तविक अधिकारी चन्द्रगुप्त को प्राप्त ह
और कपटाचरण एवं अन्याय से उस पर स्वल्प काल के
अधिकार कर लेने वाला रामगुप्त पराभव को प्राप्त होता है।

निर्भीकता हृदय की सात्विक प्रेरणा है। निश्छल, नि
एवं न्याय-पथ पर निरन्तर आरूढ़ व्यक्तियों में ही इसका प्रा
होता है। मन्दाकिनी के व्यक्तित्व में ऐसी ही निर्भीकता कू
कर भरी है। वह अन्तःपुर की सामान्य परिचारिका होत
नीति एवं विवेक सम्मत बात को राजाधिराज के भी सामने
पूर्वक कहने में नहीं हिचकती। वह नाटक के अन्तिम
भरी सभा में ललकार कर कहती है—"राजा का भय, म
गला नहीं घोट सकता। तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि
तो इस अपनी कुल मर्यादा नारी को, शत्रु के दुर्ग में यों न
× × × × इस परिषद् से मेरी प्रार्थना है, कि आर्य समुद्रगु
विधान तोड़ कर जिन लोगों ने राजकिल्विष किया हो उन्हें
मिलना चाहिए।" इसके पश्चात् वह समस्त सामन्तकुम
सम्मुख रामगुप्त के कपटाचरण एवं किल्विष की वह कलई
है कि सब लोग उसे सुनकर स्तब्ध रह जाते हैं और सबको
विकता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। निस्सन्देह नि
में मन्दाकिनी, ध्रुवस्वामिनी से किसी दशा में कम नहीं है।
का पक्ष निर्भीकता के अभाव में विजयी नहीं हो सकता, म
की सफलता के मूल में उसकी निर्भीकता ही है।

मन्दाकिनी का मानों विश्व में अपना कोई नहीं है। उसका सारा जीवन दूसरों की सेवा और सामञ्जस्य विधान में सदैव संलग्न रहता है। उसे ध्रुवस्वामिनी के हृदय में, चन्द्रगुप्त के प्रति स्नेह के सूक्ष्म संकेत ही प्रारम्भ में प्राप्त होते हैं। जब वह आगे की घटनाओं तथा वार्ता—प्रसङ्गों से यह निश्चयपूर्वक अनुभव कर लेती है, कि "निश्चय ही यह कुमार चन्द्रगुप्त की अनुरागिनी है," तब वह उसी उत्साह और कुशलता से चन्द्रगुप्त को ध्रुवस्वामिनी की वास्तविक प्रीति की प्रतीति कराने में तत्पर होती है। वह चन्द्रगुप्त को 'महादेवी बनने के पहिले ध्रुवस्वामिनी का जो मनोभाव था' उसका परिचय कराती हुई अत्यन्त उत्साहपूर्ण वचनों से उन्हें कर्तव्य ज्ञान कराती है—"हृदय में नैतिक साहस—वास्तविक प्रेरणा और पौरुष की पुकार एकत्र करके सोचिए तो कुमार! कि अब आपको क्या करना चाहिए।" निस्सन्देह मन्दाकिनी के प्रयास से ही ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के पारस्परिक प्रेम-मय जीवन का प्रसार होता है।

मन्दाकिनी के चरित्र सम्बन्धी एक विद्वान आलोचक के इस कथन को एकाङ्गी ही माना जायगा कि 'मन्दाकिनी तो केवल ध्रुवदेवी के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर बोलने वाली उसकी सहचरी मात्र है। उसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व है—ऐसा नहीं मालूम पड़ता................।" व्यक्तित्व-शून्य पात्रों की कल्पना 'प्रसाद' के उर्वर मस्तिष्क में विरल है। सामान्य वर्ग के पात्रों के अन्दर भी उदात्त मानवी गुणों की प्रतिष्ठा कर उन्होंने नाटकीय पात्रों के चरित्र को व्यक्तित्वपूर्ण बनाया है। मन्दाकिनी का चरित्र भी इसी कोटि का है। न्याय-पक्ष की विजय के लिये जो निःस्वार्थ-बुद्धि, निर्भीकता और कुशलता आपेक्षित है उसकी एक बहुत बड़ी मात्रा मन्दाकिनी में है। ध्रुवस्वामिनी की वह सहचरी है। मन्दा की कठोर एवं गम्भीर वाणी से ध्रुवस्वामिनी को बल भी

अवश्य प्राप्त होता है किन्तु इसकी तो अपर को नितान्त अपेक्षा भी है। स्वामिहित चिन्तन और उसके लिए तत्परतापूर्ण प्रयास मन्दाकिनी के व्यक्तित्व को ऊँचा उठा देते हैं। अभिजात्य का अभाव अथवा ममत्व की अभिलाष शून्यता किसी को व्यक्तित्व हीन नहीं ठहरा सकते।

किसी के चरित्र का गौरव अभिजात कुल या उच्च पद पर प्रतिष्ठित होने से ही नहीं होता। वह तो सर्वथा व्यक्ति विशेष के विचारों और कार्यों पर अवलम्बित रहता है। मन्दाकिनी न तो किसी अभिजात कुल की है और न उसे जीवन में उच्च पद ही प्राप्त है। किन्तु उसके चरित्र के उपर्युक्त विवेचना से यह तो स्पष्ट ही है कि उसके विचार न्याय-बुद्धि पर अवलम्बित हैं तथा परमार्थ प्रेरक हैं। वह विचारों के अनुरूप ही निर्भीकता एवं कुशलता से कार्य करती है। उसे अपने लक्ष्य में पूर्ण सफलता भी प्राप्त होती है। अतः उसका चरित्र परम गौरवशाली है।

कोमा

अनुभूतिमयी और दार्शनिक कोमा के चरित्र की कल्पना द्वारा 'प्रसाद' ने एक आदर्श नारी का चित्र प्रस्तुत किया है। नारी स्वभाव की सामान्य दुर्बलता—मोह—के साहचर्य में विवेक, विनम्रता, आत्मसमर्पण, दैन्य, त्याग आदि परम उदात्त सबल गुणों का निदर्शन उसके चरित्र में है। अतः उसका व्यक्तित्व सामाजिकों एवं पाठकों की स्मृति में अमरत्व प्राप्त कर जाने योग्य है।

वह आचार्य मिहिरदेव की पालिता पुत्री है और वह 'उन्हीं की शिक्षा में पली है।' अतः उसका दार्शनिक होना स्वाभाविक है। किन्तु कोमा की दार्शनिकता शुष्क नहीं है। वह जीवन-मधु की अनुभूति से संवलित है। वह अभावमयी लघुता में महत्त्वपूर्ण दिखाने का अभिनय करना इसीलिए पसन्द नहीं कर सकती क्योंकि उसे 'रूठने का सुहाग' कभी नहीं मिला। इसी कारण उसे 'संसार में बहुत सी बातें बिना अच्छी हुए भी अच्छी लगती हैं, और अच्छी बातें बुरी लगती हैं।' जीवन की इस गम्भीर अनुभूति के मूल में नारी स्वभाव की सहज दुर्बलता मोह या प्रेम है। प्रेम के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान रखते हुए भी वह नारी होने के नाते, उससे अपने को बचा नहीं सकती है। वह जानती है—"प्रेम! जब सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रकाशपुञ्ज उड़ेल देता है, तब सामने की और भी वस्तुएँ अस्पष्ट हो जाती हैं।" किन्तु फिर भी यह समझ कर कि—'प्रेम करने की ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच समझ कर चलना दोनों

एक बराबर हैं,' वह प्रेम पथ पर अपनी अनन्य भावना से पदार्पण करती है। एक बार प्रेम-पथ का पथिक बनकर उस पर जो 'निराशा, निष्पीड़न और उपहास' उसे मिलते हैं वह आत्मसमर्पण, दैन्य और त्याग के संबल से उन्हें सहती हुई प्रेम सफल निर्वाह करती है और पूर्ण नारीत्व की गौरवमयी झांकी प्रस्तुत करती है।

प्रेम के आलोक से चकाचौंध हो कोमा एक भयङ्कर भूल कर बैठती है। उसके प्रेम का आलम्बन, शकराज, उसके सर्वथा अनुपयुक्त है। वह निष्ठुर, स्वार्थी, विलासी और प्रमादपूर्ण है। कोमा आरम्भ में शकराज की दर्प से दीप्त, महत्वमयी पुरुष मूर्ति को ही देख कर उसकी पुजारिन बन जाती है। स्वार्थी और विलासी शकराज की 'स्नेह सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों ने' कोमा के 'मन के नीरस और नीरव शून्य में सङ्गीत की, वसन्त की और मकरन्द की सृष्टि की' तथा वह 'अनुभूतिमयी बन गई।' उसे यह आगे चलकर ही विदित होता है कि उसका यह भ्रम था। किन्तु कोमा इस भ्रान्तिशोध के पश्चात् भी न तो प्रेम-पथ से विरत होती है और न उसका विवेक ही कुण्ठित होता है। उसके चरित्र में प्रेम और विवेक का संतुलित चरम निदर्शन है। एक ओर जहाँ वह प्रेम की वेदी पर खड़े होकर आजीवन 'निराशा निष्पीड़न और उपहास' को मूक भाव से सहन करती हुई प्रेमी के शव के साथ शरीर त्याग करती है वहां दूसरी ओर वह प्रेमी के अन्यायपूर्ण कुकृत्यों का यथाशक्ति प्रतिकार करने की चेष्टा भी करती है और उसमें सफल न होने पर वह प्रेमी के आकांक्षा-पथ से स्वयं ही हट जाती है। उसके मानस में मोह और विवेक के बीच एक बार स्वाभाविक संघर्ष होता है। विवेक उसे जीवन का आदर्श पथ संकेतित करता है किन्तु प्रेम की पुष्प शृङ्खला उसे उस पथ पर पैर नहीं बढ़ाने देती। उसके इसी मानसिक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति नाटककार ने उसके द्वारा ही बड़े

मार्मिक शब्दों में छाया पद्धति से कराई है—"मैंने जिसे अपने आसुओं से सींचा, वही दुलार भरी वल्लरी, मेरे आँख बन्द कर चलने में मेरे पैरों से उलझ गई है। दे दूं एक झटका—उसकी हरी हरी पत्तियाँ कुचल जांय और वह धूल में लोटने लगे? ना, ऐसी कठोर आज्ञा न दो।" कोमा के अन्तःस्थित इस द्वन्द्व में विजय विवेक की होती है। वह शकराज की दर्पदीप्तिमयी पुरुष मूर्ति के स्थान पर स्वार्थ-मलिन कलुष, से भरी मूर्ति देख कर और उस आशंका मात्र से कम्पित और भयभीत पाकर उसका पल्ला छोड़ देती है; वह अपने आचार्य का अनुगमन करती है। प्रेमी के पतन में सहायक होकर अथवा उसके अन्यायपूर्ण कुकृत्यों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से योग देकर वह नारी जाति के लिए लज्जा और निन्दा का विषय बन जाती। मोह पर विवेक की विजय आदर्श सम्मत है।

आत्मसमर्पण का उच्च आदर्श अपने जीवन में अपनाकर भी कोमा यथार्थ तथ्य निवेदन में विवेकपुष्ट निर्भीकता का परिचय देती है। वह अपनी स्वाभाविक विनम्रता के साथ शकराज के समक्ष वास्तविक सत्य को स्पष्ट रूप से कहने में नहीं हिचकती—"मेरे राजा! आज तुम एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए कैसा अनर्थ कर रहे हो?" इसी प्रकार जब दैन्यपूर्ण भाव से शकराज के शव की प्रार्थना करने पर वह ध्रुवस्वामिनी से उपेक्षिता होती है तब भी उसके सामने वह जीवन का कठोर सत्य कहने में नहीं चूकती—"रानी, तुम भी स्त्री हो। क्या स्त्री की व्यथा न समझोगी, आज तुम्हारी विजय का अन्धकार तुम्हारे शाश्वत स्त्रीत्व को ढंक ले, किन्तु सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीवाली जगती है।..........." कोमा अपनी निर्भीक मुखरता में भी मर्यादित और विनम्र है जो उसके उच्चशील

और शिक्षापूर्ण संस्कृति का परिचायक है। प्रेमी के निधन होने पर उसके शव के साथ आत्मविसर्जन द्वारा कोमा ने नारी जाति के गौरवपूर्ण आदर्श-त्याग का चरम स्वरूप प्रदर्शित किया है। कोमा का व्यक्तित्व, भावुक, उदार विवेकयुक्त और त्यागमय है। नारी-जीवन का जो मार्मिक प्रत्यक्षीकरण नाटककार ने उसके चरित्र में कराया है वह सर्वथा स्तुत्य है।

विशाख

विशाख एक सुशिक्षित ब्राह्मण युवक है। वह तक्षशिला में विद्यार्थी जीवन समाप्त कर लौकिक जीवन के क्षेत्र में अवतरित होता है। सद्‌शिक्षा के प्रभाव से उसमें सहानुभूति, परदुःख-कातरता, गुरुभक्ति, कर्त्तव्यपालन आदि सभी विशिष्ट गुण यथेष्ट रूप से हैं। 'उन्नति के लिए पहली दौड़ लगाने' के पहिले ही वह यह अनुभव कर लेता है कि "यौवन सुख के लिए नहीं है वरन् वह आशामय भावी सुखों के लिए कठोर कर्मों का संकलन है।" अतः जीवन में जो संकट एवं विघ्नबाधाएँ आती हैं वह दृढ़ता से उनका सामना करता है और अपने बुद्धि बल और पुरुषार्थ से वह अपने जीवन को क्रमशः उन्नतिपथ पर अग्रसर करता है।

परदुःखकातरता और सेवाभाव, जो सद्‌शिक्षा के प्राथमिक निदर्शन हैं, विशाख के चरित्र में प्रारम्भ से ही स्फुरित हैं। वह 'संसार में पदार्पण करने की प्रतिपदा तिथि में' ही चन्द्रलेखा और इरावती की दारिद्र्य-पीड़ित, सुन्दर किन्तु मलिन आकृतियों को देखकर सहानुभूति प्रेरित हो उनकी सहायता के लिए अग्रसर होता है। निस्सन्देह विशाख के ही उद्योग से चन्द्रलेखा, बौद्ध महन्त सत्यशील के चंगुल से छुटकारा पाती है और सुश्रुवा नाग को अपनी अपहृत भूमि वापिस मिलती है।

सुशिक्षित होने पर भी विशाख लोक व्यवहारों से पूर्ण परिचित नहीं है। उसके स्वभाव में एक अजीब अक्खड़पन है। इसी से वह जहाँ जाता है वहाँ मुँहठेठ बात कहने के कारण अन्य लोगों से उसकी मुठभेड़ हो जाती है। कानीर विहार के द्वार पर ही वह एक भिक्षु से उलझ जाता है। महापिङ्गल से प्रथम मिलन

के अवसर पर ही विशाख की जो बातें उससे होती हैं उससे स्पष्ट हो जाता है कि राजपुरुषों को अपने अनुकूल करने की क्षमता स्वतः उसमें नहीं है। परिस्थितियों द्वारा ही वह व्यावहारिक कुशलता प्राप्त करता है। राजसभा में भी सत्य किन्तु अप्रिय कथन के कारण विशाख को मन्त्री द्वारा डाँट सुननी पड़ती है। किन्तु फिर भी विशाख को अपने मानापमान की उतनी चिन्ता नहीं जितनी कार्य्य सिद्ध करने की। वह पुरुषार्थ पर दृढ़ आस्था रखने वाला है। वह समझता है कि 'संसार उन्नति का साथी है, और उद्योगहीन मनुष्य शिथिल हो जाता है।' अतः वह अपने उद्योग और पुरुषार्थ में सदैव संलग्न रहता है।

अपने हृदयस्थित सच्चे विचारों को दूसरों के सामने निर्भयता के साथ रखने वाला और अपनी आत्मा के आदेश के अनुसार कार्य्य करने वाला पुरुष ही निर्भीक कहा जा सकता है। विशाख इसी कोटि का मनुष्य है। वह जिस स्पष्टता के साथ बौद्ध महन्त सत्यशील, और राजा नरदेव के समक्ष उनके अन्यायपूर्ण कुकृत्यों का पर्दा खोलता है उससे उसके निर्भीक आत्मबल का परिचय मिलता है। वह भिक्षु से कहता है—"मैंने अच्छी तरह विचार कर लिया है कि आपको इतनी भूमि का अन्न खाकर और मोटा होने की आवश्यकता नहीं।" इसी प्रकार वह नाटक के तृतीय अङ्क के चतुर्थ दृश्य में न्यायासन पर बैठे हुए राजा नरदेव के एक प्रश्न का मुँहतोड़ उत्तर देता है—"नहीं जानता हूँ कि उस समय क्या उत्तर दिया जाय जब कि अभियोग ही उलटा हो और जो अभियुक्त हो—वही न्यायाधीश हो।" विशाख में स्वाभिमान की मात्रा भी इतनी प्रबल है कि वह चन्द्रलेखा को नरदेव के हवाले करने का प्रस्ताव करने वाले महापिंगल का मस्तक ही तलवार से काट लेता है। विशाख के स्वभाव में यौवन के प्रभाव से शीघ्र ही उत्तेजित होने की प्रवृत्ति है। वह चैत्य में बौद्ध भिक्षु निर्भयानन्द को मारने

के लिए तलवार उठाता है और नाटक के अन्तिम दृश्य में नरदेव को घायल दशा में देखने पर भी उसके विरुद्ध उसकी प्रतिहिंसा जाग उठती है, जिसे प्रेमानन्द शान्त करते हैं।

विशाख के चरित्र में सबसे महत्वपूर्ण घटना चन्द्रलेखा का प्रेम है। नाटकीय कथावस्तु के विकास का मानों यही आधार है, तथा विशाख की कर्मण्यता एवं पुरुषार्थ का प्रेरक चन्द्रलेखा के प्रति उसका प्रेम है। वह स्वयं कहता है कि "चन्द्रलेखा को यदि न देखता तो सम्भव है कि यह धर्मभाव न जागता।" चन्द्रलेखा के प्रथम साक्षात्कार में ही उसकी दारिद्र्यग्रस्त मूर्ति देख कर विशाख की सहानुभूति तो सजग होती है पर साथ ही उसका रूपलावण्य देखकर उसके प्रति अनुराग का भी स्फुरण होता है। चन्द्रलेखा भी विशाख की परदुःखकातरता, परोपकार भावना एवं पुरुषार्थमय व्यक्तित्व से प्रभावित हो उसकी ओर सहज ही आकर्षित होती है और उसके सामने आत्मसमर्पण कर देती है। दोनों ही परस्पर प्रणयबन्धन में बँध जाते हैं। विशाख नितान्त मुखर प्रेमी ही नहीं है। वह अपनी प्रेमिका को घोर सङ्कटमय परिस्थितियों से बचाता है और उसके सतीत्व तथा सम्मान की रक्षा के लिए स्वयं विपत्तियों के बादल अपने सर पर बुलाता है। वह चन्द्रलेखा को कानीर विहार की कोठरी से मुक्त कराता है तथा राजा नरदेव के चंगुल से उसे बचाने के लिए वह अपने प्राणों की भी बाजी लगा देता है। चन्द्रलेखा के प्रेम से ही उसका सारा जीवन अनुप्राणित है। इस दृष्टि से यद्यपि विविध व्यापारों में उसकी संलग्नता स्वार्थप्रेरित प्रतीत होती है किन्तु फिर भी वह सात्विक ही मानी जायगी। नाटककार ने इसी बात का प्रतिपादन प्रेमानन्द द्वारा नाटक में कराया है—"जब तक शुद्ध बुद्धि का उदय न हो, तब तक स्वार्थ प्रेरित होकर भी सत्कर्म करणीय है। ....उद्देश्य उत्तम होना चाहिए। जो कर्त्तव्य है उसे निर्भय होकर करो।"

विशाख में गुरुभक्ति अटल रूप से है। वह अपने गुरु प्रेमानन्द के उपदेशों को मंत्रवत् ग्रहण कर जीवन में उनके अनुसार कार्य करता है। परोपकार, निर्भयता, उदारता आदि सद्गुण उसके गुरु की ही देन हैं, जिनसे उसका चरित्र अलंकृत है। वह गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा एवं भक्ति रखता है। वह उनके सामने अत्यन्त विनम्रता पूर्वक उनके उपदेशों को ग्रहण कर उनका पालन करता है। वह प्रेमानन्द के ही आदेश से भिक्षु और नरदेव की हत्या नहीं करता तथा अपने हृदय की उत्तेजना को दबा जाता है।

नाटक का नायक विशाख है। उसमें नायकोचित प्रायः सभी विशेषताएँ हैं। वह विद्वान, पराक्रमी, पुरुषार्थी, विनम्र और धैर्य्यवान है, तथा वह परोपकार के लिए सदैव तत्पर रहने वाला है। नाटक की सभी प्रमुख घटनाओं से उसका सम्बन्ध है। नाटक के अन्य प्रमुख पात्र सत्यशील, महापिंगल, नरदेव, सुश्रुवा, प्रेमानन्द आदि उसके चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करने में सहायक होते हैं। नाटक का फल नायिका की प्राप्ति भी उसको ही होती है। विशाख को यद्यपि नाटक के फल रूप राज्यप्राप्ति तो नहीं होती किन्तु उसे बालक-राजा के शिक्षण का कार्य्य प्राप्त होता है, जो राज्य प्राप्ति के ही समान है। नाटककार ने नाटक का नाम उसके नाम पर ही रखा है, अतः विशाख ही निर्विवाद रूप से नाटक का नायक है।

'विशाख' 'प्रसाद' जी की प्रारम्भिक नाटकीय कृति है अतः उसमें पात्रों के चरित्र का विकास-क्रम सुस्पष्ट एवं सुव्यवस्थित नहीं है। पात्रों की स्वभावगत विशेषताओं का प्रत्यक्षीकरण निखरे हुए रूप में नहीं प्राप्त होता ; अतः उनका व्यक्तित्व विशेष प्रभावोत्पादक नहीं बन पाया। 'विशाख' के चरित्र में भी सद्गुणों का स्पष्ट विकास नहीं है तथा उसके स्वभाव में जो कुछ दुर्बलताएँ हैं, वे इस रूप से निरन्तर सामने आती रहती हैं कि उनके कारण सद्गुणों का स्वरूप और भी धूमिल हो जाता है। यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि नायक के रूप में जैसा उत्कर्षपूर्ण विशाख का चरित्र होना चाहिए था वह नहीं हो सका।

नरदेव

'विशाख' नाटक के प्रथम अङ्क के द्वितीय दृश्य में सर्वप्रथम नरदेव एक कर्त्तव्य-परायण एवं न्यायनिष्ठ राजा के रूप में दिखाई पड़ता है। किन्तु बाद में सामान्य मानव-हृदय की सहज दुर्बलता—रूपमोह—के वशीभूत होजाने के कारण वह नैतिक पतन के गर्त में गिर जाता है। वह कर्त्तव्यपालन, न्यायभावना आदि सभी राजोचित गुणों से विहीन कामान्ध एवं अविवेकी दिखाई पड़ता है। आकस्मिक विपत्तियुक्त घटनाएँ तथा प्रेमानन्द के उदात्त सात्विक उपदेश एवं सहानुभूति पूर्ण व्यवहारों से उसका अविवेक दूर होजाता है और उसमें पूर्ण सात्विक बुद्धि का उदय होजाता है।

प्रजा-पालन और निष्पक्ष न्यायदान, राजा के प्रमुख कर्त्तव्य हैं। नरदेव के चरित्र में पहिले इन्हीं गुणों का निदर्शन है। विशाख द्वारा कानीर विहार के बौद्धमहन्त सत्यशील के कदाचारों की कुटिल कथा सुनकर नरदेव कर्त्तव्य एवं न्यायभावना से प्रेरित हो अत्यन्त तत्परता के साथ कहता है—'बस ब्राह्मणदेव पर्य्याप्त हुआ। (मन्त्री से) क्यों मन्त्रिवर! क्या यही प्रबन्ध राज्य का है? खेद की बात है। अभी इस ब्राह्मण की बातों की खोज की जाय, और गुप्त रीति से। देखो आलस न हो! हम स्वयं इसका न्याय करेंगे।" इतना ही नहीं, वरन् वह स्वयं बौद्ध विहार में जाकर चन्द्रलेखा को महन्त के चंगुल से मुक्त कराता है और अन्याय पूर्वक सुश्रुवा नाग की अपहृत भूमि उसे वापिस दिलाता है। नरदेव की न्यायबुद्धि पूर्ण सात्विक नहीं है। वह क्रोध और आवेश से परिपूर्ण हो एकांगी है। अतः सत्यशील जैसे असाधु महन्त के पापाचरण से उत्तेजित हो वह समस्त बौद्ध विहारों को जला देने की आज्ञा

देता है। प्रेमानन्द के अनुरोध एवं सात्विक उपदेश से वह अपनी उस क्रूर आज्ञा को वापिस लेता है और समस्त बौद्ध विहारों का अग्निदाह बन्द हो जाता है। नरदेव के इस कार्य से सन्त साधु एवं महात्मा पुरुषों के प्रति उसकी आस्था भी प्रकट होती है। इसी सद्गुण के पूर्ण विकास होने पर उसका पूर्ण विनाश नहीं हो पाता।

ऐश्वर्य एवं वैभव सम्पन्न मनुष्यों के जीवन में विलासिता एक सामान्य दुर्गुण है। उनकी इस दुर्बलता के विकास में उनके कुछ पार्श्ववर्ती भी प्रायः सहायक हो जाते हैं। विलासिता के पंक में डूबा हुआ मनुष्य नीति एवं सदाचार से सर्वथा विहीन हो जाता है। नरदेव का भी जीवन प्रवाह इसी प्रकार का है। नर्तकियों के नृत्य और गान से मनोरंजन करने वाला नरदेव महापिंगल जैसे पतित चाटुकार सभासदों से घिरा रहता है। चन्द्रलेखा के लावण्यमय स्वरूप को देखते ही वह विवेक और न्याय बुद्धि को मानों तिलाञ्जलि दे उसे प्राप्त करने के लिये आतुर हो जाता है। प्रलोभन द्वारा चन्द्रलेखा को प्राप्त करने में असफल होने पर नरदेव में कोमलता के स्थान पर कुटिलता और क्रूरता आजाती है। वह महापिंगल की सहायता से चन्द्रलेखा को प्राप्त करने के लिये अनेक कौशल रचता है। चैत्य में पूजन के लिये आई हुई चन्द्रलेखा के हृदय में भिक्षु द्वारा राजरानी बनने की भावना पैदा कराने का षडयन्त्र वह महापिंगल की सहायता से रचता है। इसमें भी सफलता न मिलने पर विशाख के पास महापिङ्गल को भेजता है, जिससे कि वह भय या लोभ से चन्द्रलेखा को उसे समर्पित करदे। नरदेव काम-वासना से इतना विवेकहीन होजाता है कि वह अपनी रानी का कल्याणपूर्ण उपदेश और निर्देश भी नहीं ग्रहण करता। यद्यपि यह ठीक है कि महा-पिंगल उसके कामजन्य अविवेक की वृद्धि में सहायक है किन्तु फिर भी प्रजापालक राजा होने के नाते उसका यह अत्यन्त जघन्य अपराध है कि वह अपनी एक प्रजा के सतीत्व और सम्मान

की खुली लूट के लिये प्रयत्नशील हो। नरदेव अपने कुकृत्यों का स्वयं ही उत्तरदायी है।

अनीति और अनाचार अपनी चरमावस्था को पहुँच कर कर्त्ता के अस्तित्व के लिये विस्फोट प्रस्तुत कर देते हैं। नरदेव अपनी दुर्नीति एवं दुराचारों से अपने विरुद्ध विनाश की भूमिका स्वयं प्रस्तुत करता है। धूर्त महापिंगल की हत्या का प्रतिकार वह विशाख को निर्वासन एवं प्राणदण्ड की आज्ञा देकर करना चाहता है। समस्त नाग जाति विद्रोही होकर सत्याग्रह के लिये प्रस्तुत हो जाती है। प्रेमानन्द के कल्याणप्रद सदुपदेश को वह अवज्ञा के कानों से सुनता है। उसकी प्रतिकार भावना प्रबल होकर क्रूरता का ताण्डव करने लगती है। वह शान्त किन्तु दृढ़ नाग जाति को न्यायालय से हटाने के लिये क्रूरता पूर्वक आदेश देता है—"मारो इन दुष्टों को।" परिणामस्वरूप नरदेव को ही अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला में परिवार सहित जलना पड़ता है। प्रेमानन्द और चन्द्रलेखा की साधुता और उदारता के कारण ही नरदेव और उसके पुत्र के प्राण बचते हैं।

पापाचरण का यथेष्ट दण्ड मिलने पर ही विकृत हृदय सुकृति की ओर उन्मुख होता है। अग्नि की लपटों में झुलस कर नरदेव पुनः तपाये हुये सोने की तरह खरा हो जाता है। उसका विवेक सजग होकर उसे हिताहित का यथार्थ ज्ञान कराता है। प्रेमानन्द के हितपूर्ण उपदेश एवं उदार व्यवहारों से उसकी आखें सदा के लिये खुल जाती हैं। वह मुक्त कंठ से स्वीकार करता है—"हाय हाय, मैंने क्या किया,—एक पिशाच-ग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी...।" इस प्रकार वह आत्मग्लानि व्यक्त कर सच्चे हृदय से प्रेमानन्द, विशाख और चन्द्रलेखा से अपने कुकृत्यों के लिये क्षमा मांगता है। नरदेव के चरित्र में यह परिवर्तन घटनाओं के घात-प्रतिघात और परिस्थितियों की प्रेरणा से है; अतः पूर्ण स्वाभाविक है।

प्रेमानन्द

प्रेमानन्द नाटक का महात्मा पात्र है। वह उच्च विचारशील एवं परोपकारी है। वह जीवन के उच्च आदर्शों के अनुरूप ही आचरण करने वाला है। नाटक के प्रायः सभी प्रमुख पात्र विशाख, नरदेव, सत्यशील आदि के राग, द्वेष, प्रमाद, लोभ आदि से पराभूत हृदयों को अपनी अमृतमयी शीतल एवं स्निग्ध वाणी से अभिसिञ्चित करता हुआ वह उन्हें आदर्श-जीवनपथ का पथिक बनाता है। 'विशाख' नाटक में प्रेमानन्द का व्यक्तित्व मानों एक प्रकाश-स्तम्भ के समान है जिसके प्रखर आलोक में नाटक के अधिकांश पात्र भटकते, भूलते हुए भी अपनी जीवन यात्रा का आदर्श-पथ प्राप्त करके कृतार्थ होते हैं।

प्रेमानन्द शाश्वत-संघ का अनुयायी है। प्रेम की सत्ता को संसार में जगाना ही उसका कर्त्तव्य है। वह अध्यापक जीवन सफलता पूर्वक व्यतीत कर परिव्राजक रूप में प्रकृति का दर्शन करने की अभिलाषा से पर्य्यटन करता है। जीवन में उसकी कोई निजी आकांक्षा या स्वार्थ नहीं है, अतः वह अपने विचारों का उपदेश बड़ी निर्भीकता एवं पक्षपात रहित होकर करता है। कानीर विहार में ही वह न्यायपथ का अवलम्बन करते हुए चन्द्रलेखा को मुक्त करने के लिये सत्यशील से निर्भीकता पूर्वक कहता है—"क्या तुम उस कन्या को न छोड़ दोगे? क्या धर्म की आड़ में प्रभूत पाप बटोरोगे?"

प्रेमानन्द का अपने शिष्य विशाख पर प्रभूत स्नेह है। वह उसे सदैव जीवन का सत्पथ प्रदर्शित करता है और जब कभी उसमें उत्तेजना एवं द्वेष का प्रादुर्भाव होता है तब वह अपने शीतल उपदेशमय वचनों द्वारा उसे शान्त करता है। वह विशाख को कर्मयोग के व्यावहारिक रूप का अनुकरण करने की शिक्षा देकर निर्भय रूप से

कर्त्तव्य करने का आदेश देता है। जब विशाख चैत्य में प्रवञ्चक भिक्षु को मारने के लिए तलवार उठाता है तो प्रेमानन्द उसे यह समझाते हुए रोक लेता है—'क्षमा सर्वोत्तम दण्ड है विशाख।' इसी प्रकार जब विशाख, नरदेव को अन्तिम दृश्य में अपने आश्रम में देखता है और द्वेष एवं प्रतिहिंसा प्रेरित हो उससे प्रतिशोध लेने के लिए प्रस्तुत होता है, तब प्रेमानन्द उसे समझाता है—"विशाख, वत्स! प्रतिहिंसा, पाशवृत्ति है।......यदि मेरा कहा मानो, तो तुम सज्जनता के हृदय से इन्हें क्षमा करदो...।"

प्रेमानन्द मानों साक्षात् प्रेम-मूर्ति है। उसे किसी से द्वेष नहीं है। वह अपकारी और अनाचारी व्यक्तियों को भी अपने प्रेम-मय कोमल वचनों और व्यवहारों द्वारा अपने वश में कर लेता है। नरदेव अपने अन्यायपूर्ण कार्यों का शांत विरोध करने वाले प्रेमानन्द को अत्यन्त तिरस्कार पूर्ण शब्दों द्वारा न्यायालय से बहिर्गत होने की आज्ञा देता है—"चले जाओ सन्यासी, तुम क्यों व्यर्थ अड़ते हो। यह नहीं हो सकता। निकालो जी, इन्हें बाहर करो।" किन्तु प्रेमानन्द के हृदय में उसके प्रति सद्भावना और सहानुभूति न्यून नहीं होती। वह राजा को अग्नि में से घुस कर उठा लाता है और पीठ पर लाद कर चला जाता है। वह औषधि उपचार से उसे पुनः स्वस्थ कर देता है। प्रेमानन्द की शीतल वाणी और व्यवहारों के प्रभाव से नरदेव का कलुषित हृदय निर्मल हो जाता है तथा वह अपने वास्तविक उपकारी के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा व्यक्त करता हुआ अपने अपराधों के लिए क्षमा मांगता है—"देवदूत! मेरे अपराध क्षमा कीजिए।...गुरुदेव, मैं आपकी शरण हूँ; मुझे फिर से शान्ति दीजिए।" प्रेमानन्द जैसे पारस रूप महात्मा के प्रभाव से लौहवत् कठोर हृदय वाला नरदेव काञ्चन-वत् कलुष विहीन एवं कान्तियुक्त व्यक्तित्व प्राप्त करता है।

प्रेमानन्द का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। सभी जाति के लोग उसके आदेशों को मन्त्रवत् ग्रहण करते हैं। नाग जाति नरदेव के अत्याचारों से पीड़ित हो लगभग क्रान्ति के लिए व्याकुल हो जाती है। प्रेमानन्द अपने मनोहर उपदेश द्वारा उन्हें अपने अनुकूल बनाकर उनकी हिंसक वृत्ति को उपशमित करता है। समस्त नाग जाति उसके आगे नतमस्तक हो उसके बताए हुए मार्ग पर चलना स्वीकार करती है। बौद्ध विहारों को जला देने की आज्ञा को नरदेव, प्रेमानन्द के समझाने से वापिस लेता है। प्रेमानन्द अपने सात्विक और प्रेममय उपदेशों से समष्टि और व्यष्टि का कल्याण साधन में पूर्ण सफल होता है। उसका व्यक्तित्व निस्सन्देह अत्यन्त गौरव-पूर्ण एवं श्रद्धा योग्य है। नाटककार ने उसके कल्पित चरित्र में अपने आदर्शों की प्रतिष्ठा कर व्यावहारिक जीवन में उनकी उपादेयता और प्रभविष्णुता सफलता पूर्वक अभिव्यक्त किया है। प्रेमानन्द का जीवन यद्यपि आदर्शों के उच्च धरातल पर ही सदैव संचरण करता हुआ दिखाई देता है पर लोक में ऐसे उदात्त विचारों वाले कर्मठ पुरुषों का अस्तित्व प्राय: देखा जाता है; अतः उसका जीवन-चरित्र अस्वाभाविक नहीं कहा जासकता।

महापिङ्गल

महापिङ्गल विनोदी, किन्तु धूर्त एवं चाटुकार राज सहचर है। वह अपनी विनोद पूर्ण मुखरता द्वारा राजा नरदेव तथा उनके अन्य सभासदों का मनोरञ्जन करता है। वह स्वयं कामुक मनोवृत्ति का है तथा राजा की कामुक दुश्चेष्टाओं में उसका सहायक होता है। नाटककार ने विशाख द्वारा उसकी मृत्यु नाटक में प्रदर्शित की है। लोक की नीतिपूर्ण व्यवस्था के लिये समाज में महापिङ्गल जैसे कुटिल मनुष्यों की स्थिति सर्वथा अवाञ्छनीय है।

महापिङ्गल में अहम्मान्यता अत्यधिक मात्रा में है। अतः वह औरों के सामने आत्मगौरव और अभिमान भरी बातें खूब छाती फुला फुला कर करता है। इतना ही नहीं वह अपना अभिमान और गर्व दिखाने के लिये अकारण मिथ्या क्रोध भी प्रगट करता है। प्रथम अङ्क के द्वितीय दृश्य में उसकी इन वृत्तियों का परिचय स्पष्ट रूप से मिलता है। विशाख को देखते ही, पिङ्गल उस पर अपना प्रभाव जमाने के लिये आत्मप्रशंसा के पुल बाँध देता है और विशाख को अपने से हीन सिद्ध करने के लिये उसे दो-चार खोटीखरी भी सुना देता है। आत्माभिमानी स्वयं अपनी प्रशंसा करने के अतिरिक्त दूसरों से भी अपने सामने ही अपनी श्लाघा सुनने का इच्छुक रहता है और उसे प्राप्त कर वह हर्ष प्रकट करता है। विशाख, पिङ्गल से कहता है—"मैंने आपके गाने की बड़ी प्रशंसा सुनी है, इसी से—हाँ।" पिङ्गल प्रसन्न होकर तत्काल कहता है—'तुम रसिक भी हो। अच्छा 'अच्छा, सुनाऊँगा, ठहरो चित्त

उसके अनुकूल हो जाय। मिथ्या आत्माभिमान क्षुद्र बुद्धि का परिचायक है।

महापिङ्गल स्वयं कामुक है और भीषण चाटुकार है। वह अपनी चाटुकारिता से राजा की दुर्वासनाओं को प्रोत्साहन देकर सर्वथा अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। वह चन्द्रलेखा की भगिनि इरावती के प्रति विषयासक्त होता है। साठ वर्ष की वृद्धावस्था में, परिणीता भार्या के होते हुए भी अन्य स्त्रियों के प्रति प्रेमाभिनय करना उसके चरित्र के नैतिक खोखलेपन का परिचायक है।

महापिंगल की चाटुकारिता तो मानों प्रकृतिसिद्ध है। उसे अपनी चाटुकारिता पर गर्व है। वह विशाख से कहता है—"महाराज को हमारे ऐसे यदि दो चार चाटुकार सामन्त न मिलते तो उन्हें बुद्धि का अजीर्ण हो जाता, उनकी हाँ न मिलाने से फिर भयानक बात की संग्रहणी हो जाती है, और निरीह प्रजा से अनेक विधानों से कर न मिलने के कारण उन्हें उपवास करके ही अच्छा होना पड़ता है।" महापिंगल कोरी हाँ—में—हाँ मिलाने वाला ही नहीं है वरन् वह राजा की कामुक दुर्वासनाओं को प्रोत्साहित करता है और स्वयं उसका सहायक बनता है। वह राजा को रमण्याटवी में ले जाकर चन्द्रलेखा के समक्ष प्रेम की प्रस्तावना आशीर्वाद—व्याज से प्रस्तुत करता है—'अच्छा-तुम राजरानी हो।' अपने प्रथम प्रयास में निष्फल होने पर वह प्रवञ्चना और कूट चालों का आश्रय लेता है। भिक्षु को चैत्य में भेजता है जिससे कि चन्द्रलेखा के हृदय में राजा से सम्बन्ध स्थापित करने की भावना घर कर जाय। वह राजा की विषयासक्ति को अपनी चाटूक्तियों द्वारा

उत्तेजित करता रहता है। नरदेव जब मिथ्या एवं कलुषित प्रेम-भावना का अभिनय करता हुआ चन्द्रलेखा की आज्ञा से अपने पेट में कटार मार लेने की बात पिंगल से कहता है तो वह अपनी चाटूक्ति से मानों राजा के इस मिथ्या दम्भ को प्रोत्साहित करते हुए कहता है—'यथार्थ है, श्रीमान्, उसे भीतर कीजिये नहीं तो मेरी बुद्धि घूमने चली जायगी।......हाँ, जी, कुछ ऐसा-वैसा नहीं प्रेम भी तो राजाओं का है।" महापिङ्गल की कुटिल चाटूक्तियों के कारण ही राजा नरदेव पर उसकी रानी के अनुरोध पूर्ण सदुपदेशों का प्रभाव नहीं पड़ता और वह कुमार्ग से विरत नहीं होता। महापिङ्गल की नीचतापूर्ण मूर्ख बुद्धि की वह पराकाष्ठा है जब कि वह विशाख के पास चन्द्रलेखा को समर्पित करने का प्रस्ताव अधिकारपूर्ण ढंग से जाकर रखता है। विशाख द्वारा महापिङ्गल की हत्या सर्वथा औचित्यपूर्ण है।

महापिंगल के चरित्र में नाटककार ने हास्योत्पादकता का भी विधान किया है। उसकी आत्मप्रशंसायुक्त गर्वोक्तियों में हास्य का पर्य्याप्त सम्मिश्रण है। उसके कथनों में मिथ्याडम्बर, आत्मश्लाघा, पेटूपन कार्पण्य आदि की मुखर अभिव्यञ्जना है, जिससे हास्य का सम्यक् स्फुरण होता है। पिंगल के चरित्र में प्राचीन संस्कृत नाटकों के विदूषकों की स्पष्ट छाया है। राज-सहचर होने के साथ ही वह राजा की प्रेम लीलाओं में उसका सहयोगी और सलाहकार है तथा भोज्य पदार्थों में उसकी तीव्र अभिरुचि है। चन्द्रलेखा के यहाँ राजा के साथ जाते उसे बड़ी जोर की भूख लगती है। दूसरों के यहाँ भोजन करने की तो उसमें तीव्र तत्परता है पर अन्य लोगों को अपने यहाँ खिलाने का नाम सुनते ही वह मानों आसमान ही सर पर उठा लेता है। इससे उसकी कृपणता का का भी परिचय मिलता है। प्राचीन संस्कृत नाटकों में विदूषकों

का चारित्रिक पतन इस कोटि का नहीं होता जैसा कि पिंगल का है अतः वे नाटक के सम्मानित पात्र होते हैं। अभिज्ञान शाकुन्तला का विदूषक–माधव्य–राजमाता के लिए पुत्रवत् सम्मानित है। महापिङ्गल को नरदेव की रानी कुटिल सभासद् के रूप में देखती है और स्वयं उसके दण्ड-विधान का आदेश देती है। अतः आदर्श रक्षा हेतु पिंगल ऐसे खलपात्र की मृत्यु नाटक के अन्तर्गत प्रदर्शित करना अनुचित नहीं है।

सत्यशील

सत्यशील एक बौद्ध महन्त है। उसके चरित्र में बौद्धों के गुणों सात्विक का सर्वथा अभाव है तथा उनके स्थान पर महन्तों के दुर्गुणों का ही प्राधान्य है। करुणा, क्षमा, उदारता, परोपकार, विश्वमैत्री आदि सात्विक बौद्ध जीवन की विशिष्टताओं के स्थान पर उसमें स्वार्थ, लोभ, पाखण्ड, दुराचार, क्रूरता आदि प्रबल रूप से वर्तमान हैं। नागों की अपहृत भूमि विहार के लिये प्राप्त कर वह उसका उपभोग बड़े अधिकारपूर्ण ढङ्ग से करता है। उसे अपने खेतों की पगडण्डी पर से भी किसी का निकलना सह्य नहीं है। वह सुश्रुवा नाग को पगडण्डी पर से निकलने के कारण बड़ी उल्टी सीधी बातें कहता है और उसे बँधवा लेता है, तथा विशाख को खेत में खड़ा देख कर उससे भी उलझ पड़ता है।

सत्यशील पाखण्डी, दुर्विनीत और डरपोक भी है। वह दूसरों के समक्ष अपनी धार्मिकता प्रकट करने के लिए कहता है—"इससे हमारे जैसे अनेक धार्मिक और निरीह व्यक्तियों का निर्वाह होना है······" परन्तु वह वास्तव में न तो धार्मिक है और न निरीह। ऐश्वर्य के उपभोग से विलासिता और अनीति का भी अतिचार उसके चरित्र में है। सुश्रुवा नाग को बाँधते समय उसकी कन्या चन्द्रलेखा पिता की रक्षा के लिए आजाती है। सत्यशील उसके रूप लावण्य को देख कर उस पर आसक्त हो जाता है तथा सुश्रुवा को छोड़ कर उसे पकड़ ले जाता है और विहार की एक कोठरी में बन्द कर देता है। विशाख के मुँह से उसकी क्रूर पापलीला सुनकर जब प्रेमानन्द उसे समझा बुझाकर चन्द्रलेखा को छोड़ने का आग्रह करता है तब वह उनसे ही बड़ी अशिष्टता के

साथ व्यवहार करता है और चन्द्रलेखा को नहीं छोड़ता। पाप और अत्याचार का जीवन बालू की भीत के समान क्षणिक होता है। राजा नरदेव, विशाख द्वारा सत्यशील के क्रूर एवं पापमय जीवन की गाथा सुनकर स्वयं सत्यशील के विहार में आता है और चन्द्रलेखा को उसके चंगुल से मुक्त कराता है। सत्यशील मिथ्या भाषण द्वारा अपने बचाव का प्रयत्न करता है। वह राजा से कहता है—'नरेश यह प्रव्रज्या ग्रहण करने आई थी।' किन्तु उसके पापों का पर्दा खुल जाता है और राजा उसे बन्दीगृह में डलवाकर उसके विहार में आग लगवा देता है। इस प्रकार उसे अपने कुत्सित जीवन का सम्पूर्ण प्रतिफल प्राप्त हो जाता है।

नाटककार ने सत्यशील के जीवन में महन्तों के स्वार्थी, विलासी और प्रवञ्चनापूर्ण जीवन की एक झाँकी प्रस्तुत की है। यद्यपि उसका चरित्र विस्तार की दृष्टि से अत्यल्प है फिर भी महन्तों के सामान्य जीवन के अनेक दुर्गुणों का प्रत्यक्षीकरण उसके द्वारा स्पष्टता के साथ हुआ है। सत्यशील का दुःशील चरित्र मानों प्रेमानन्द सदृश सात्विक बौद्ध भिक्षु के चरित्र का प्रतिरूप है और इससे अपर का चरित्र-गौरव द्विगुणित होगया है।

सुश्रुवा (नाग)

नागराज सुश्रुवा शोषित और उत्पीड़ित है। उसके पूर्वजों की समस्त भूमि राजा द्वारा अपहृत कर बौद्ध विहारों को दान कर दी गई है। अतः वह अत्यन्त अकिञ्चन और निरीह दशा में है। उसे अपने पूर्वजों की भूमि पर चलने का भी स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। बौद्ध महन्त सत्यशील उसे खेत की पगडंडी पर चलने के कारण ही मारता है और बाँधने का उद्योग करता है। उसकी कन्या चन्द्रलेखा को महन्त के आदमी उसके सामने ही बाँधकर पकड़ लेजाते हैं।

सुश्रुवा नाग में, अकिञ्चन होने पर भी स्वाभिमान और पूर्व गौरव की भावना विद्यमान है। महन्त के द्वारा अत्यन्त कदर्थित किए जाने पर उसका स्वाभिमान गरज उठता है। वह भिक्षु से ललकार कहता है—"तुम जानते हो, मैं वही सुश्रुवा नाग हूँ, जिसके आतङ्क से यह रमणीक प्रदेश थर्राता था। अभी भी तुम्हारे जैसे कीड़ों को मसलने के लिए इन वृद्ध बाँहों में कम बल नहीं है।" सुश्रुवा के इस ओजस्वी व्यक्तित्व का विकास नाटक में आगे नहीं हुआ। रमणी के द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि वह कहीं बाहर चला जाता है तथा राजा उसकी सम्पत्ति लौटा देते हैं। सुश्रुवा को हम पुनः एक दुःखद दृश्य का साक्षात् करते हुए देखते हैं। उसके सामने ही राजा के अनुचर उसके जामाता विशाख और कन्या चन्द्रलेखा को महापिंगल की हत्या के अपराध में पकड़ ले जाते है। सुश्रुवा इस घटना पर खेद प्रकट कर ही रह जाता है "चन्द्रलेखा गई, विशाख भी गया, हा...।" राजा नरदेव के दरबार में सुश्रुवा नाग एक विनीत प्रार्थी

के रूप में ही दिखाई पड़ता है—"आपके सैनिकों ने मेरी कन्या चन्द्रलेखा और जामाता विशाख को अकारण पकड़ रखा है, उसे छोड़ दीजिए!" वस्तुतः सुश्रुवा का चरित्र विकास अत्यन्त अल्प और साधारण कोटि का है। उसकी ओजस्विता, स्वाभिमान पराक्रम आदि प्रदर्शन के जो स्थल नाटकीय वस्तु में हैं वहाँ भी उसके व्यक्तित्व को गौण ही रखा गया अतः उसका चरित्र महत्वशून्य प्रतीत होता है।

———

चन्द्रलेखा

चन्द्रलेखा अकिञ्चन, सुन्दरी तथा अत्यन्त सरल स्वभाव की युवती है। वह एक प्रतिष्ठित नागकुल की कन्या है अतः अभिजात्य गुण—आचरण की पवित्रता, आतिथ्य भावना, मर्य्यादा भाव आदि उसके चरित्र में है। 'विशाख' के स्त्री पात्रों में चन्द्रलेखा का चरित्र ही अधिक विस्तार से अङ्कित किया गया है। नाटक के नायक से उसका परिणय होता है तथा नाटक की अधिकांश प्रमुख घटनाएँ उसके जीवन-विकास से सम्बन्धित हैं। नाटक के नायक विशाख का सत्यशील, नरदेव आदि से संघर्ष, चन्द्रलेखा के विषय में ही होता है। अतः चन्द्रलेखा ही नाटक की नायिका है।

नाटक के प्रारम्भ में चन्द्रलेखा अपनी बहिन इरावती के साथ अत्यन्त मलिन वेश में उदरपूर्ति के लिए खेत से सेम की फलियाँ तोड़ती हुई दिखाई पड़ती है। उदर ज्वाला से पीड़ित होने के कारण ही लोकदृष्टि में तथा कथित निन्दनीय कर्म में प्रवृत्त होने पर भी उसमें अभिजात्य का सङ्कोच और लज्जा है। विशाख के साधारण ढङ्ग से टोक देने पर ही वह भयभीत होकर आँचल से सब फलियाँ उगल देती है तथा अत्यन्त कातर भाव से कहती है—"क्षमा कीजिए, मैं अब कभी न इधर आऊँगी। दरिद्रता ने विवश किया है, इसीसे आज सेम की फलियाँ पेट भरने के लिए, अपने बूढ़े बाप की रक्षा करने के लिए, तोड़ ली हैं। यदि आज्ञा हो तो इन्हें भी रख दूं।"

विशाख की सहज सौम्य मूर्ति चन्द्रलेखा के मानस में अङ्कित हो जाती है। वह विशाख की निर्भीकता और परदुःखकातरता से अत्यन्त प्रभावित होती है। सत्यशील के विहार की कोठरी में

बन्द वह विशाख के प्रेम में ही विभोर है। उस कुत्सित कोठरी में बन्द वह उसी स्वर्ग का आनन्द लेती है। फिर तो वहाँ से मुक्त होने पर विशाख द्वारा किञ्चित प्रणय-चर्चा करते ही वह उसके सामने अपना हृदय हार जाती है। विशाख के प्रति उसका प्रेम अखण्ड है। उसे बड़े से बड़े प्रलोभन, प्रवञ्चना आदि अपने सुदृढ़ प्रेम-भाव से विचलित नहीं करते। महापिंगल और नरदेव द्वारा प्रदर्शित राजरानी बनने को सब्जबाग़ को वह ठुकरा देती है। वह चैत्य में प्रवञ्चक भिक्षु की देववाणी के रूप में आई हुई आज्ञा की उपेक्षा कर देती है। वह अपने पति की मङ्गलकामना के लिए अर्धरात्रि में चैत्य में अकेले ही दीपक रखने जाती है। वह अपने पति का साथ घोर सङ्कट-काल में भी नहीं छोड़ती। जब महापिंगल की हत्या करने के अपराध में राजा के अनुचर विशाख को पकड़ कर ले जाने लगते हैं तो चन्द्रलेखा स्वेच्छा से ही बन्दिनी हो उसके साथ जाती है। उसे अपने पति विशाख पर इतना अनन्य अनुराग है कि वह उसे अपने से बिलकुल पृथक नहीं करना चाहती। विशाख को प्राप्त कर लेने के बाद विश्व में उसकी अन्य कोई कामना नहीं है। उद्योग के लिए बाहर जाने को उत्सुक विशाख से वह कहती है—'मुझे तो जीवनधन! तुम्हें पा जाने पर और किसी की आवश्यकता नहीं।' ×××× "मैं क्या जानूँ कि संसार क्या चाहता है। मैं तो केवल तुम्हें चाहती हूँ। मेरे संकीर्ण हृदय में तो इतना स्थान नहीं कि संसार की बातें आ जायें।" चन्द्रलेखा के इस द्वितीय कथन से विशाख के प्रति उसके प्रेम की अनन्यता स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होती है।

चन्द्रलेखा के स्वभाव में सरलता एवं मनुष्यमात्र के प्रति सम्मानपूर्ण सहानुभूति है। महापिंगल और राजा नरदेव को अपने घर में आया देखकर वह अपनी स्वाभाविक सरल प्रकृति के अनुरूप उनके प्रति सम्मान प्रकट करती है और उनका समुचित

आतिथ्य करती है। पर इसके साथ ही उसमें सतीत्व और आत्म-सम्मान की रक्षा की दृढ़ता भी पर्य्याप्त है। महापिंगल और राजा की बातों से उन्हें प्रवञ्चक और अपने सतीत्व का लुटेरा समझ कर वह कठोर शब्दों में उनकी भर्त्सना करती है तथा राजा से डाँट कर कहती है—"राजन् मुझसे अनादृत न हूजिए, बस, यहाँ से चले जाइये।" इसके पहिले भी कानीर विहार में सत्य-शील के प्रलोभनों को ठुकराकर चन्द्रलेखा अपने चरित्र की पवित्रता एव उज्ज्वलता का परिचय देती है।

चन्द्रलेखा के स्वभाव में नारी हृदय की एक दुर्बलता है। वह आकस्मिक घटनाओं से घबड़ाकर भयभीत हो जाती है। चैत्य में दीप के बुझते ही वह त्रस्त हो जाती है तथा आड़ में बैठे हुए भिक्षु की आवाज एवं गर्जना सुनकर वह घबड़ाकर गिर जाती है। वीर नारियों की सी साहसशीला प्रकृति का उसमें अभाव है। चन्द्रलेखा का चरित्र समीष्ट रूप से यद्यपि अधिक प्रभावोत्पादक नहीं है किन्तु उसके स्वभाव की सरलता, हृदय की कोमलता तथा उसके प्रेम की अनन्यता जिस स्वाभाविक रूप में प्रदर्शित की गई है उससे उसका व्यक्तित्व नाटक के अन्य स्त्री-पात्रों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण एवं आकर्षक होगया है।

इरावती

इरावती, चन्द्रलेखा की बहिन है। उसका चरित्र-विकास अत्यल्प है। वह अपनी बहिन के दुःख और सुख में दुःखी और सुखी है। उसे हम चन्द्रलेखा के साथ ही रोम की कलियाँ तोड़ते देखते हैं। वह विशाख को अपना और चन्द्रलेखा का परिचय देती है। चन्द्रलेखा और विशाख का प्रणय सम्बन्ध स्थापित होने पर इरावती विनोदपूर्ण आनन्द प्रकट करती है। तथा जब विशाख और चन्द्रलेखा, नरदेव के यहाँ बन्दी होकर चले जाते हैं तो वह घोर विषाद और चिन्ता में डूबी हुई दिखाई पड़ती है—"चन्द्रलेखा को लेकर इतना बड़ा उपद्रव हो जायगा कौन जानता था········।" नाटक में इरावती की स्थिति चन्द्रलेखा एवं तद्विषयक कुछ घटनाओं का परिचय कराने मात्र तक है। नाटककार ने उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं का निदर्शन कराते हुए उसके चरित्र का विकास नहीं किया। अतः वह नाटक की एक अत्यन्त साधारण स्त्री-पात्र है।

रानी

राजा नरदेव की स्त्री नाटक में केवल एक ही बार प्रकट होती है। किन्तु एक ही बार के साक्षात्कार में उसके स्वभाव की स्पष्टता, निर्भीकता एवं पतिपरायणता का सुन्दर आभास मिल जाता है। एक ओर तो वह अपने पति के विलासी और अनीति-पूर्ण जीवन की विनम्रतापूर्ण आलोचना करती है—"राज्य की व्यवस्था देखिए कैसी शोचनीय है। आपकी मानसिक अवस्था तो और भी।" तथा दूसरी ओर वह पूर्ण तेजस्विता के साथ महा-पिंगल सदृश कुटिल चाटुकारों की लम्बी खबर लेती है। उसके (रानी के) समक्ष ही जब भिक्षु द्वारा महापिंगल की कुटिलता की कलई खुलती है तो वह तत्काल अनुचरों को पिंगल को बाँधने का आदेश देती है। कामान्ध राजा नरदेव अपनी रानी की बातों पर ध्यान नहीं देता और महापिंगल को बन्धन-मुक्त करा देता है। अतः एक सच्ची पतिपरायणा स्त्री की भाँति वह पति की कल्याण भावना से अत्यन्त मुखर होती हुई राजा को यह निर्देश करती है "ऐसे कुटिल सभासदों का साथ छोड़िए" तथा अन्तिम रूप से यह चेतावनी देती हुई कि—'परिणाम बड़ा ही भयङ्कर होने वाला है।' वह चली जाती है।

तरला

तरला, नाटक के खलपात्र महापिंगल की स्त्री है। वह अपने बूढ़े एवं कामी पति पर पूर्ण शासन करती है। महापिंगल अपनी भयानक आकृति वाली कुरूपा स्त्री से बहुत डरता है। तरला भी महापिंगल के चरित्र और स्वभाव की दुर्बलता का लाभ उठाकर उसकी बहुत दुर्दशा करती है। वह उसकी कठोर व्यंग्य-पूर्ण शब्दों से भर्त्सना ही नहीं करती वरन उसके बाल नोचती है और धौल जमाती है। तरला में निम्न कोटि की स्त्रियों की सभी दुर्बलताएँ और दुर्गुण हैं। उसे क्षुद्र प्रकृति की स्त्रियों की भाँति गहनों से बड़ा मोह है। वह गहनों के लोभ में पड़कर पति के दुर्गुणों की भी उपेक्षा कर देती है। महापिंगल ज्योंही उसे चन्द्रहार लाने का लालच देता है कि वह उसके अवगुणों को भूलकर उसका मनुहार करने लगती है और उसके स्वर में स्वर मिलाकर गाती है—

'लगा दो गहने का बाजार।

कुछ चिन्ता है नहीं और क्या, मिले नहीं आहार।"

तरला सोने के लालच में इतनी अन्धी है कि भिक्षु निर्भयानन्द की मिथ्या प्रवञ्चना में पड़कर वह अपना सारा चाँदी का जेवर उसे सोना बनाने को देती है। लालच का फल सदैव बुरा होता है। सोने के लोभ में पड़कर तरला अपना सारा चाँदी का गहना खो बैठती है तथा पति से हाथ धोने के बाद ही वह अपनी सम्पत्ति भी गँवा बैठती है। स्वर्ण और आभूषणों की अत्यन्त लोभी स्त्रियों की यह दुरवस्था परम स्वाभाविक है। नाटककार ने मानों इसी तथ्य का दिग्दर्शन कराने के लिए नाटक में तरला के चरित्र की अवतारणा की अन्यथा नाटकीय कथावस्तु एवं व्यापारों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

विलास

'कामना' नाटक के पुरुष-पात्रों में विलास का चरित्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। फूलों के द्वीप में उसके पदार्पण करते ही उसका प्रभाव क्रमशः प्रसारित होने लगता है। द्वीप की प्रधान स्त्री कामना ही सर्वप्रथम उससे प्रभावित होती है। तत्पश्चात् द्वीप के प्रायः सभी नर नारी उसके उपदेशों और आदेशों को मन्त्रवत् ग्रहण करते हैं। वह अपने बुद्धि कौशल द्वारा द्वीप में सुरा और स्वर्ण पर आश्रित नवीन सभ्यता का चतुर्दिक प्रचार कर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त करता है।

विलास 'अपने शापग्रस्त और संघर्षपूर्ण देश की ज्वाला से दग्ध होकर' निकलता है। वह फूलों के द्वीप में आकर वहाँ के निवासियों की सरलता, निश्छलता आदि को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाता है। विलास महत्त्वाकांक्षी है। अतः वह कठोर संकल्प करता है—"ऐसी सीधी जाति पर शासन न किया, तो पुरुषार्थ ही क्या ? इनमें प्रभाव फैलाकर अपने नये व्यक्तिगत महत्ता के प्रलोभन वाले विचारों का प्रचार करना होगा।" इस संकल्प के उदय होते ही उसे अपनी छाया में यह संकेत भी प्राप्त होजाता है—"बिना स्वर्ण और मदिरा का प्रचार किये तू इस पवित्र और भोली भाली जाति को पतित नहीं बना सकता।"

संकल्प और साधनों के सुनिश्चित होजाने पर विलास अपने कूट कौशल द्वारा बड़ी तत्परता से लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। विवेक के कथनानुसार "उसकी तीक्ष्ण आँखों में कौशल की लहर उठती है। मुस्कराहट में शीतल ज्वाला और बातों में भ्रम की बढ़िया है।" कामना तो उसके प्रथम साक्षात्कार

के बाद ही उसके रूप-वैभव के कारण उस पर मुग्ध हो जाती है। वह अपने सुरचित स्वर्ण के आलोक से द्वीप निवासियों की आँखों में चकाचौंध पैदा कर उन्हें भी अपनी ओर बरबस आकर्षित कर लेता है। विनोद, लीला तथा अधिकांश द्वीप निवासी उसकी दासता मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते है। वह एकाएक द्वीप का प्रभुत्व प्राप्त करना कठिन समझता है! कामना को द्वीप का नेतृत्व प्राप्त है; अतः वह यह निश्चय करता है—"जब तक कामना इस पद पर है, उसी बीच में अपना काम कर लेना है।" वस्तुतः कामना उसके कार्य्यसाधन की टट्टी है। वह उसकी उँगलियों पर नाचती है और इशारों पर चलती है। वह उसी को द्वीप की रानी बनाकर अपनी योजनाएँ प्रचारित करता है और अपना प्रभाव विस्तृत करता है।

विलास इतना कार्य-कुशल है कि वह अपनी मूल योजना को सहसा सामने नहीं लाता। प्रत्येक योजना को वह एक भूमिका द्वारा प्रस्तुत करता है। कामना को रानी बनाने के पूर्व वह द्वीप निवासियों के खेलों में कामना को रानी बनाता है और उसकी आज्ञा पालन का निर्देश करता है। इसी प्रकार द्वीप निवासियों में हिंसक वृत्ति का प्रचार करने के लिए वह वन पशुओं को भयभीत करने का निर्देश करता है। वह इसे विनोद और व्यायाम का सुगम साधन बताकर पशुओं की निर्मम हत्या कराता है और इस प्रकार हत्या, क्रूरता आदि का उनमें प्रचार करता है। वह अपनी योजनाओं के प्रस्ताव बड़े सरल और स्वाभाविक तर्कों और युक्तियों के साथ प्रस्तुत करता है जिसके कारण समस्त द्वीप वासी उसकी बातों को स्वीकार करलेते हैं। द्वीप में प्रथम बार राज्य सत्ता स्थापित कर राज्यादेश मान्य ठहराने में उसे कुछ विरोध और कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कामना ही जब उससे पूँछती है—"तुमने मुझे रानी क्यों

बनाया ?" तब वह उसे समझाता है—"रानी, तुमको इसीलिए रानी बनाया कि तुम नियमों का प्रवर्तन करो। इस नियमपूर्ण संसार में क्या अनियन्त्रित जीवन व्यतीत करना मूर्खता नहीं है ?" इसी प्रकार वह नाटक के द्वितीय अंक के पाँचवें दृश्य में अपनी विस्तृत तर्कयुक्त वक्तृता द्वारा समस्त द्वीप वासियों को राज्यपद की आवश्यकता का बोध कराता है। राज्यशक्ति की स्थापना करने के बाद वह स्वयं प्रधान मन्त्री बन कर अन्य राज्याङ्गों की स्थापना करता है। कारागार, संग्रहालय, न्यायालय, सेना आदि की स्थापना के द्वारा द्वीप पर उसका प्रभुत्व क्रमशः दृढ़ हो जाता है।

विलास अपने स्वार्थ साधन में इतना पटु है कि वह अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व का भी प्रभाव अपने ऊपर नहीं जमने देता। कामना विलास पर पूर्णतया अनुरक्त है। वह बड़ी उत्कंठा पूर्वक विलास के साथ अपने विवाह की आकांक्षा करती है। किन्तु विलास अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए यही निश्चय करता है—"मैं उसको अपना हृदय-समर्पण नहीं कर सकता।" अतः वह कामना के समक्ष उसके झूठे महत्व का पर्दा खींच कर कहता है—"मैं तुम्हें ही इस द्वीप की एकच्छत्र अधिकारिणी देखना चाहता हूँ। × × × × तुम द्वीप भर में कुमारी ही बनी रहकर अपना प्रभाव विस्तृत करो यही तुम्हारे रानी बने रहने के लिए पर्याप्त कारण हो जायगा।"

विलास का हृदय क्रूर और कलुषपूर्ण है। वह शान्तिदेव की हत्या करने वालों का दण्ड-विधान करते हुए निर्देश करता है—"इनका दण्ड भी ऐसा होना चाहिए कि देखकर लोग काँप उठें, फिर कोई ऐसा दुस्साहस न करें।" वह द्वीप के पड़ोसी प्रदेश पर नृशंस आक्रमण कर वहाँ हत्या और रक्तपात का नग्न ताण्डव करता है तथा पराजित देश के सेनापति और उसकी स्त्री की क्रूरता-पूर्ण हत्या करवाता है।

विलास दृढ़ हृदयवान होकर भी लालसा के कटाक्षों से घायल हो उसके समक्ष प्रणय आकुलता व्यक्त करता है और अपनी पराजय स्वीकार करता है। वह लालसा से दिल खोलकर कहता है—"मेरी जीवन-यात्रा में इसी बात का गर्व था कि मुझ पर किसी स्त्री ने विजय नहीं पाई; परन्तु वह झूठा गर्व था।" लालसा को अपनाने पर भी उसकी कामुकता प्रशमित नहीं होती। वह शत्रु-सेनापति की स्त्री पर अपनी पाप-दृष्टि डालता है और उसे बल-पूर्वक अपनाने की चेष्टा करता है। अपने प्रयत्नों में असफल होने पर विलास प्रतिहिंसा प्रेरित हो उस स्त्री की क्रूरता पूर्वक हत्या करवा देता है।

विलास अपनी महत्वाकांक्षा का महल अनीति और अनाचार की नींव पर खड़ा करना चाहता है। उसकी कुशाग्र बुद्धि के कारण सरल हृदय द्वीप निवासियों के बीच उसकी दुर्नीति लता कुछ समय के लिए खूब फैलती है। उसके साथी दम्भ, दुर्वृत्त, क्रूर आदि उसकी सघन छाया में खूब फलते फूलते हैं। किन्तु उसकी दुर्नीति से प्रतिफलित अपराधों की आँधी और कुचक्रों का वात्याचक्र उसके वालुकामय महत्वाकांक्षा के प्रासाद को भूमिस्मात कर देते हैं। नवीन सभ्यता के विकास से प्रादुर्भूत पारस्परिक ईर्षा, मात्सर्य, प्रमाद, वासना, अनाचार का नग्न नृत्य द्वीप निवासियों को असह्य हो जाता है। विवेक की प्रबल हुँकार उनकी मोहनिद्रा को भङ्ग कर देती है। विलास के हाथों की कठपुतली कामना ही उसके अधिकार से मुक्त होकर उसकी विडम्बनाओं का खुला तिरस्कार कर देती है। द्वीप में राजा बनने का विलास का स्वप्न भङ्ग हो जाता है। विवेक और संतोष की सङ्गठित शक्ति के विरुद्ध अपनी डगमगाती हुई सत्ता को डूबने से बचाने का उसका अन्तिम क्षीण प्रयत्न अत्यन्त निष्फल सिद्ध होता है। अन्त में द्वीप से पालायन करके भी वह अपनी प्राणरक्षा नहीं कर

पाता। उसने द्वीप में जिस स्वर्ण का प्रभूत प्रचार कर उसे अपना अनुगामी बनाया था, द्वीप निवासियों द्वारा उसकी नौका पर फेंका गया वही स्वर्ण समुद्र गर्भ में उसकी अनन्त समाधि का कारण बन जाता है।

विलास का चरित्र व्यापकता एवं प्रभाव की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नाटक में वर्णित फूलों के द्वीप की समस्त नवीन हलचलों का केन्द्र विलास है। यद्यपि वह द्वीप में अपनी सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने में असफल होता है फिर भी वह अपने अद्भुत वाक्-विभ्रम और तीक्ष्ण बुद्धि-कौशल से द्वीप के नैसर्गिक जीवन में नवीन सभ्यता के उपकरण और उपादान प्रचलित करने में बहुत दूर तक सफल होता है। रानी से लेकर सामान्य स्त्री पुरुप तक उसके आदेशों और मंत्रणाओं को नत-मस्तक हो स्वीकार करते हैं। जीवन में उसकी असफलता का मूल कारण सम्भवतः लालसा के समक्ष उसकी पराजय स्वीकृति है। लालसा को अपनाकर वह कामना की सहानुभूति सर्वथा खो बैठता है। लालसा की विलासिता के प्रवाह को रोकने में वह स्वयं भी असमर्थ होता है। शत्रु सेनापति से लालसा को प्रणय-भिक्षा माँगते देखकर भी वह उसके विरुद्ध कुछ नहीं कर पाता। अतएव लालसा जनित वासनाओं की वहिया में उसकी महत्त्वाकांक्षा के महल की नींव खोखली हो जाती है। विलास के चरित्र द्वारा, मानव जाति के नैसर्गिक जीवन में नवीन सभ्यता के प्रसार की विविध दिशाओं एवं तज्जन्य दुरावस्थाओं का चित्रण ही नाटककार का परम अभीष्ट है और इसमें उसे पूर्ण सफलता मिली है।

विवेक

फूलों के द्वीप में विवेक अपनी सूक्ष्म तत्वदर्शिनी बुद्धि के कारण विलास के प्रभाव में नहीं आता। वह निर्भीक साहसी और स्पष्ट वक्ता है। वह विलास द्वारा प्रचारित नवीन सभ्यता के मायाजाल की विभीषिका को भली भाँति समझता है और द्वीप निवासियों को निरन्तर उसका परिचय कराता रहता है। विलास के मुख से वह प्रथम बार अपराध और पापों की चर्चा सुनते ही कह बैठता है—"परिवर्तन! वर्षा से धुले हुए आकाश की स्वच्छ चन्द्रिका, तमिस्रा से—कुहू से बदल जायगी। बालकों के से शुभ्र हृदय छल की मेघ माला में ढंक जाँयगे।" ज्यों ज्यों द्वीप में विलास कृत विडम्बना का प्रसार होता है त्यों त्यों विवेक का विरोध भी प्रबल होता जाता है। उसके हृदय में द्वीप के प्रति वास्तविक कल्याण भावना है, अतः वह अपने हृदय की बात दूसरों के समक्ष निर्भीकता-पूर्वक कहने में नहीं हिचकता। वह द्वीप निवासियों की आँखों का पर्दा हटाते हुए उन्हें वास्तविकता का परिचय कराता है—"व्यभिचार ने तुम्हें स्त्री सौन्दर्य का कलुषित चित्र दिखलाया है और मदिरा उस पर रङ्ग चढ़ाती है।"

विलास के स्वर्ण और सुरा की ओर विवेक हाथ नहीं बढ़ाता अतः द्वीप के अन्य निवासियों की अपेक्षा वह आडम्बर शून्य रूप में रहता है। द्वीप निवासी उसके नितान्त सादे वेष को देखकर उसकी उपेक्षा करते हैं। उसे अस्पृश्य, गन्दा, अछूत आदि कहकर उसका खुला तिरस्कार करते हैं। उसकी भर्त्सना-युक्त कठोर बातों के कारण उसे पागल की उपाधि प्रदान की जाती है और सभी जगहों से उसे बहिष्कृत किया जाता है। वह अपने

लिए पागल के सम्बोधन का स्वागत करता है—"मैं पागल हूँ! अच्छा है जो सज्ञान नहीं हूँ, इस बीभत्स कल्पना का आधार नहीं हूँ।

द्वीप में न्याय के नाम पर प्रचारित नृशंस हत्या के विरुद्ध विवेक की आत्मा तड़प उठती है। एक विद्रोही की भाँति पशुता का प्रतिकार करने के लिए वह मृत्यु की भी किञ्चित परवाह न कर कामना और विलास के समक्ष ही ललकार कर कहता है—"मेरी भी इस खुली छाती पर दो-तीन तीर! रक्त की धारा वक्षस्थल पर बहेगी, तो मैं भी समझूंगा कि तपा हुआ लाल सोने का हार मुझे उपहार में मिला है। रानी के सभ्य राज्य का जय-घोष करूँगा। लोहू के प्यासे भेड़ियो, तुम जब बर्बर थे, तब क्या इससे बुरे थे? तुम पहले इससे क्या विशेष असभ्य थे? आज शासन-सभा का आयोजन करके सभ्य कहलाने वाले पशुओ, कल का तुम्हारा धुँधला अतीत इससे उज्ज्वल था।" विवेक अपनी सत्यासत्य निरूपिणी वाणी का गम्भीर घोष द्वीप के प्रत्येक निवासी प्रत्येक स्त्री-पुरुष, कामना, विलास, विनोद आदि सभी के समक्ष करता है। वास्तव में वह सत्य-ज्ञान का मानों एक प्रकाश-पिण्ड है जो अपने आलोक से द्वीप-निवासियों को सत्पथ का निर्देश करता है और अपनी प्रखर उष्णता से उनके मृतप्राय विलास जर्जर शरीरों में नैसर्गिक शक्ति-सुधा का संचार करता है।

विवेक केवल वाक्शूर नहीं है। वह कठोर कर्मक्षेत्र में अवतरित होकर अपनी सेवा और सङ्गठन-शक्ति के द्वारा पीड़ितों को नवजीवन प्रदान करता है तथा उनमें वास्तविक चेतना को सचेष्ट कर द्वीप के उद्धार के लिए वह उन्हें सङ्गठित करता है। युद्ध में घायल व्यक्तियों की चिकित्सा करके वह उन्हें निरोग ही नहीं करता वरन् वह उन्हें सर्वथा अपने अनुकूल बना लेता है। पीड़ितों की रक्षा के लिए उसमें शारीरिक बल और दृढ़ता भी पर्य्याप्त है।

वह एक सैनिक से एक बालिका की रक्षा कर अपने शारीरिक बल का परिचय देता है। सैनिक द्वारा दी हुई मृत्यु की धमकी की लेशमात्र चिन्ता न करते हुए वह उसकी चुनौती को स्वीकार करता हुआ कहता है—"दूसरे की रक्षा में, पाप के विरोध और परोपकार करने में प्राणोंपण तक दे देने का साहस किस भाग्यवान् को होता है? नीच! आ देखूँ तो।" विवेक झपट कर सैनिक का खड्ग-युक्त हस्त पकड़ लेता और वह विवश होकर उसकी आधीनता स्वीकार करता है। इसी प्रकार वह दुराचारियों के हाथों से सन्तोष और करुणा के जीवन और मर्य्यादा की रक्षा करता है।

विलास की वासना-आँधी में विवेक की वाणी कुछ समय तक तो अवश्य अरण्यरुदन सिद्ध होती है पर धीरे धीरे द्वीप निवासी उसकी बातों का रहस्य समझने लगते हैं। कामना को तो उसकी बातें सुनकर सिर में पीड़ा होने लगती है। विलास भी उसकी बातों पर विचार करने को कहता है। विनोद तो विवेक की बातों से प्रभावित होकर मधुर मिलन के अभिनय का मङ्गल पाठ पढ़ने की घोषणा मुक्तकण्ठ से करता है। अन्ततोगत्वा कामना, विवेक से लिपट कर ही वास्तविक शान्ति प्राप्त करती है और इस प्रकार विवेक के उद्योग से ही द्वीप का पुनरुद्धार होता है।

संतोष

सन्तोष गम्भीर और शान्त प्रकृति का पुरुष है। वह अपने लिए प्रस्तुत स्वल्प साधनों से सन्तुष्ट रहने वाला है। अनन्त जलराशि का अतिक्रमण कर वह नवीन सुख साधनों की इच्छा नहीं रखता। उसे अपना अविवाहित जीवन भी दूभर नहीं प्रतीत होता और वह विनोद से स्पष्ट शब्दों में कहता है—"मैं सन्तुष्ट हूँ—मुझे ब्याह की आवश्यकता नहीं।"

सन्तोष के हृदय में कामना के प्रति वास्तविक अनुराग है। वह जब लीला द्वारा कामना और विलास के विवाह की चर्चा सुनता है तो उस पर सहज ही विश्वास नहीं करता और उसका विरोध करने का भी वह विचार करता है। नाटक के तृतीय अङ्क के द्वितीय दृश्य में वह स्वयं अपना प्रणय-भाव कामना के प्रति स्पष्ट करता है; कामना के प्रति अनुराग रखते हुए भी वह उसकी चञ्चल भावभङ्गियों के कारण उसके प्रति उदासीनता ही पहिले प्रकट करता है—"मैं तो उससे अलग रहा चाहता हूँ।" किन्तु कामना के प्रति उदासीन होने पर भी वह लीला के प्रणय प्रस्ताव को सहसा स्वीकार नहीं करता। लीला यद्यपि बड़े उल्लासपूर्ण शब्दों में उससे कहती है—"हाँ प्रियतम इस पूर्णिमा को हमलोग एक हो जाँयगे।" पर सन्तोष उससे यही कहकर टाल देता है—"तो मैं विचार करूँगा। तुम्हारे पथ पर मैं चल सकूँगा।" सन्तोष के इस कथन से उसके स्वभाव की गम्भीरता तथा व्यक्तियों के परखने की शक्ति भी व्यंजित होती है। कामना अपनी उद्दाम वासनाओं की मृगतृष्णा में जब चारों ओर से सन्तप्त होकर मनःपूत हो जाती है और नैसर्गिक जीवन में वास्तविक सुख और शान्ति अनुभव करने

लगती है तब उसकी सारी चञ्चलता दूर हो जाती है। संतोष, कामना को सर्वथा प्रकृतिस्थ देखकर उसे सहर्ष स्वीकार करता है।

संतोष के चरित्र में नाटककार ने आरम्भ में उसकी स्वभावगत कुछ विशिष्टताओं का ही निर्देश किया है। वह द्वीप की हलचलों में कोई विशेष भाग लेता नहीं दिखाई पड़ता। केवल एक स्थान पर वह विलास की प्रत्यक्ष आलोचना करता एवं द्वीप के पतन पर खेद प्रकट करता हुआ दिखाई पड़ता है। किन्तु आगे चलकर लोक सेवा के कार्यों में उसे हम संलग्न देखते हैं। मृतक शान्तिदेव की आश्रय-विहीन बहिन करुणा की सहायता में वह पूर्ण उत्साह से तत्पर होता है। वह करुणा को मृदुल शब्दों में सान्त्वना देते हुए कहता है—"जिसका कोई नहीं है, मैं उसी का होकर देखूँगा कि इसमें क्या सुख है।" वह करुणा के साथ उसके खेतों में परिश्रम-पूर्वक कार्य करता है तथा उसके लिए अनेक कष्ट सहता हुआ वह दुर्वृत्त व्यक्तियों से उसके चरित्र और सम्मान की रक्षा करता है। वैभव और प्रभुत्व की रक्षा के लिए विलास के अन्तिम प्रयासों को वह अपने सैन्यबल से विफल करता है।

'कामना' नाटक का नायक संतोष ही माना जायगा। उसमें धीरोदात्त नायक के अधिकांश गुण हैं और नाटक के अन्त होने पर नायिका कामना की उपलब्धि उसी को होती है। उसके प्रयत्नों से ही प्रतिनायक विलास का अन्त होता है। यद्यपि विलास की अपेक्षा उसका चरित्र विकास स्वल्प है। विलास के अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व के समक्ष उसका व्यक्तित्व चेष्टा विहीन एवं प्रभावशून्य प्रतीत होता है फिर भी नाटक के प्रारम्भ और अन्त में उसकी जो स्थिति है, नाटक की परिणिति में उसका जो महत्व-पूर्ण भाग है तथा नायिका कामना से उसका जो घनिष्ट सम्बन्ध है उसके कारण हमें उसे ही नाटक का नायक मानने को विवश होना पड़ता है।

विनोद

विनोद सरल और सच्ची प्रकृति का पुरुष है। फिर भी वह नवीनता और परिवर्तन का प्रेमी है। उसे अपनी गृहस्थी ब्याह के बिना सूनी प्रतीत होती है अतः वह लीला की सरलता पर प्रसन्न ही नहीं वरन् मुग्ध होकर, उससे ब्याह करना चाहता है। किन्तु जब लीला, सन्तोष की ओर ढुलकने लगती है तो वह सन्तोष की मित्रता के नाते उससे मिलना भी बन्द कर देता है। फिर भी कामना के प्रयासों से उसका विवाह लीला से हो ही जाता है। लीला से विवाह होने के बाद विनोद के जीवन का नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। वह लीला के प्रेम-बन्धन में पड़कर उसके कहने से कामना द्वारा दी हुई पेया को स्वीकार करता है और वह स्वर्ण के लोभ से विलास की दासता भी स्वीकार कर लेता है। वह विलास के सुरा-स्वर्ण-चक्र में पड़कर भी मानों अपने आत्मस्वरूप को पहिचानता हुआ लीला से एकबार कहता है—"परन्तु लीला, हम लोग कहाँ चले जारहे हैं, कुछ समझ रही हो? समझ में आने की ये बातें हैं?" किंतु लीला सुरा के साथ ही उसे अपने सौन्दर्य की घूँटी पिलाकर उसे सर्वथा आत्मविभोर कर देती है और वह आँख बन्द कर द्वीप में नवीन सभ्यता के रूप में हत्या, व्यभिचार, विलासिता आदि के प्रचार और प्रसार में सहायक होता है। वह इतना बड़ा मद्यप हो जाता है कि मदिरा के अतिपान के कारण ही वह अन्य देश पर आक्रमण करने के लिए सैन्य संचालन में भी सर्वथा असमर्थ हो जाता है। सुरा का प्रभाव उसके मस्तिष्क तक ही नहीं रहता वरन् उसका हृदय भी उससे आक्रांत होजाता है। वह विलासी

और निष्ठुर हत्यारा बन जाता है। वह लीला के समक्ष ही, मानों उसके प्रति अपने पवित्र प्रेम पर अर्गला लगाता हुआ कालिमा को अपनी अनुगामिनी बनाता है। लीला उसकी निष्ठुरता की चर्चा करती हुई स्वयं कहती है—"वह तो एक निष्ठुर हत्यारा हो गया है। उसे मृगया से अवकाश नहीं।"

विनोद दृढ़प्रतिज्ञ एवं पराक्रमी है। वह एक बार जिसे जो वचन दे देता है उस पर वह सदैव आरूढ़ रहता है। वह कामना को रानी मानकर उसकी प्रत्येक आज्ञा का अक्षरशः पालन करता है। विलास उसके स्वभाव की इसी विशेषता को परख कर उसे द्वीप का सेनापति नियुक्त करता है। उसके नायकत्व में द्वीप में सफल सैन्य-संग्रह होता है तथा न्याय और विग्रह आदि बड़ी सफलता पूर्वक सम्पादित होते हैं। वह बड़े उत्साह पूर्ण शब्दों में द्वीप निवासियों को स्वर्ण संग्रह के लिए उत्साहित करता है—"यदि वीर हो, तो चलो—वीरभोग्या तो वसुन्धरा होती ही है। उस पर जो पदाघात करता है, उसे वह हृदय खोल कर सोना देती है।" इससे उसका रणोत्साह और पराक्रम भी प्रकट होता है।

विनोद वस्तुतः स्वयं दुःशील नहीं है। वह विलास द्वारा प्रचारित सुरा एवं स्वर्ण के प्रभाव से हृदय की सात्विकता को खोकर कुछ समय के लिए क्रूर, लोभी एवं विषयासक्त तो अवश्य हो जाता है किन्तु ज्योंही कामना, विलास की सभ्यता का पर्दा फ़ाश करती है कि विनोद की भी आखें खुल जाती हैं और वह भी विवेक के कण्ठ में कण्ठ मिलाकर पुकार उठता है—"आओ, हम सब उस मधुर मिलन के योग्य हों। उस अभिनय का मङ्गलपाठ पढ़ें।" विनोद के चरित्र में यह परिवर्तन यद्यपि आकस्मिक है किन्तु द्वीप निवासियों की आशुपरिवर्तशीला सरल प्रकृति के सर्वथा अनुरूप है।

विनोद का चरित्र सर्वथा व्यक्तित्व शून्य नहीं है। सुदृढ़ मैत्री भावना, विश्वासपात्रता एवं पराक्रम आदि उसके स्वभाव की कुछ निजी विशेषतायें हैं जिनके कारण वह द्वीप में एक महत्वपूर्ण पद ग्रहण करता है। उसके चरित्र में दुर्गुणों का प्रादुर्भाव वाह्य प्रभाव जनित है। उसके दूर होते ही उसके चरित्र की निर्मलता प्रकट हो जाती है।

कामना

फूलों के द्वीप में कामना सर्वप्रिय युवती है। कामना सी लड़की द्वीप भर में नहीं है। द्वीपवासियों के उपासना-गृह का नेतृत्व उसी के हाथ में है। सभी स्त्री, पुरुष और बालक उसका सम्मान करते हैं। बालकों तक को खेल-कूद में कामना का अभाव खटकता है। कामना, भावुक और सरल है किन्तु वह अपने हृदय की चंचलता से आन्तरिक शान्ति और शीतलता खो बैठती है। वह अपने साथ ही द्वीप निवासियों को भी नैतिक पतन के गर्त में बहुत दूर तक घसीट ले जाती है। कामना के स्खलन के साथ ही उसके द्वीप निवासियों का पतन होता है तथा उसके सँभलने के साथ ही द्वीप का पुनरुत्थान होता है।

कामना के हृदय की चंचलता का आभास नाटक में उसके प्रवेश करते ही प्राप्त होता है। वह द्वीप की निश्चेष्ट शान्ति से आकुल सी रहती है। उसका प्रेमी सन्तोष यद्यपि उसके हृदय के समीप है फिर भी वह उसे केवल 'आलस के विश्राम का स्वप्न दिखाता है,' और इसीलिए वह इस निष्कर्ष पर पहुंचती है— "अकर्मण्य सन्तोष से मेरी पटेगी ? नहीं।" वह लीला के सामने खेदयुक्त हो स्वीकार करती है—"मेरा हृदय रिक्त है। मैं अपूर्ण हूँ।

कामना भावुक रमणी है। उसके हृदय में उद्दाम प्रेम की भावना अधिष्ठित है। पहिले वह सन्तोष के साथ अपने हृदय की समीपता का अनुभव करती है। किन्तु कामना की अस्थिर भावभङ्गियों से जब सन्तोष को उसके प्रणय-भाव की अनिश्चितता अनुभूत होती है तो वह उससे अलग रहने की अपनी इच्छा विनोद के सामने व्यक्त करता है। कामना अपने प्रति सन्तोष की इस

हिचक का अनुभव कर कृतसंकल्प होती है—"सन्तोष मुझसे डरता है, तो मैं भी उससे सबको डराऊँगी।"

विलास के रूप में कामना को आत्मतुष्टि का उपयुक्त साधन एवं आधार प्राप्त होजाता है। द्वीप में विलास के प्रवेश करते ही, कामना उसके वैभवपूर्ण आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित होजाती है और अपनी स्वाभाविक सरलता के अनुरूप वह सर्वतोभावेन उसके सामने आत्म-समर्पण कर देती है।

विलास के साथ प्रणय सम्बन्ध स्थापित कर कामना अपने हृदय की भूख मिटाने के लिये आकुल हो उठती है। वह अपनी एक स्वगतोक्ति में कहती है—"मेरे भीतर का बाँकपन सीधा होगया है। मेरा गर्व उसके पैरों पर लोटने लगा है। ...... विलास! तुम्हारे दर्शन में सुख भोगने के नये नये आविष्कारों से मस्तिष्क भर दिया गया है। क्रांति और श्रान्ति मिलने के लिए जैसे सकल इन्द्रियाँ परिश्रम करने लगी हैं—विलास!" वह विलास के समक्ष मुक्तकण्ठ से स्वीकार करती है—'मैं अपनी नहीं रह गई हूँ प्रिय विलास! क्या कहूँ।" कामना के प्रति विलास का मनोभाव स्वार्थयुक्त है। वह उसे अपने कार्य्य-साधन का अस्त्र ही बनाकर रखना चाहता है। वह कामना को एक सुन्दर रानी होने के योग्य प्रभावशालिनी स्त्री' के रूप में ही देखता है। अतः वह यही निश्चय करता है—"मैं उसको अपना हृदय समर्पण नहीं कर सकता।" वह अत्यन्त कौशल से कामना को समझाता है—"तुम द्वीप भर में कुमारी बनी रह कर अपना प्रभाव विस्तृत करो। यही तुम्हारे रानी बने रहने के लिए पर्य्याप्त कारण हो जायगा।"

विलास को प्राप्त करने की कामना की आशाएँ उस समय सर्वथा लुप्त हो जाती हैं जब वह लालसा के साथ विवाह बन्धन में बँध जाता है। कामना उस दृश्य को यूथ से अलग खड़ी हो बड़े खेद और आश्चर्य के साथ देखती रह जाती है। विलास की

प्रतारणाओं से कामना का हृदय जर्जर होजाता है। ब्याह का नाम सुनते ही मानों वह तिलमिला कर अपनी सखी से कहती है—"चुप मूर्ख! मैं पवित्र कुमारी हूँ। मैं सोने से लदी हुई, परिचारिकाओं से घिरी हुई, अपने अभिमान-साधना की कठिन तपस्या करूँगी। अपने हाथों से जो विडम्बना मोल ली है, उसका प्रतिफल कौन भोगेगा? उसका आनन्द, उसका ऐश्वर्य और उसकी प्रशंसा, क्या इतना जीवन के लिये पर्य्याप्त नहीं है।" कामना के इस कथन की व्यंग्योक्तियों द्वारा उसके हृदय का क्षोभ एवं आत्म-ग्लानि स्पष्टतया व्यंजित होते हैं। विलास को हृदय देकर उसे जो आत्म-विडम्बना भोगनी पड़ती है उसी की अभिव्यक्ति इस कथन में है। सन्तोष के समक्ष कामना अपने दुःखों के ज्वालामुखी पर संयम का आवरण बड़ी कठिनता से डालती हुई केवल इतना ही कह पाती है—"मेरे दुखों को पूछ कर और दुःखी न बनाओ।" फिर भी इससे उसकी ऐकान्तिक वेदना का स्पष्ट बोध होता है।

विलास की प्राप्ति अभिलाषाओं में कामना अपने पूर्व प्रणयी सन्तोष को सर्वथा विस्मृत नहीं कर देती। लीला जब सन्तोष को अपना पति निर्धारित कर उसके साथ विवाह करना चाहती है तो कामना उससे स्पष्ट ही कह देती है—"वह मेरा निर्वाचित है! मैं चाहे ब्याह करूँ या नहीं, परन्तु वह तो सुरक्षित रहेगा...।" विलास से सर्वथा निराश हो एवं उसकी वास्तविकता का अनुभव कर उसका त्याग कर देने पर कामना को अपना पूर्व प्रेमी सन्तोष प्राप्त हो जाता है जिससे वह यथार्थ रूप से सुखी होती है।

विलास के सम्पर्क में आते ही कामना का व्यक्तित्व हलका होने लगता है। वह, उसकी कुटिल मन्त्रणाओं को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करती जाती है। स्वर्ण और मदिरा को वह बड़े उल्लास के साथ स्वीकार करती है और लीला, विनोद तथा अन्य द्वीपनिवासियों

में खुलकर उनका प्रचार करती है। वह विलास के स्वर्ण और मदिरा में आत्मविभोर हो द्वीप की परम्पराओं का भी अतिक्रमण करने लगती है। पवित्र पक्षियों के संदेश के स्थान पर वह द्वीपवासियों को नवीन पुरुष द्वारा पिता का सन्देश सुनने के लिये प्रेरित करती है। अपराध दण्ड आदि धारणाओं के प्रचार में वह प्रत्यक्ष रूप से सहायक होती है। विलास की कुटिल योजनाओं को आँख बन्द कर स्वीकार करती हुई वह द्वीप की रानी बन जाती है और मन्त्री, सेनापति, न्यायालय, कारागर आदि की स्थापना में सहायक हो वह राज्यचक्र का पूरा स्वांग खड़ा कर देती है। वह स्वर्ण प्राप्ति के लिये अन्य देश पर आक्रमण कराती है। द्वीप के नैसर्गिक जीवन में इस नवीन सभ्यता के प्रवेश के कारण हत्या, व्यभिचार, द्वेष, स्वार्थ आदि का जब विपाक्त प्रभाव उग्र रूप से प्रकट होने लगता है तभी उसकी आँखे खुलती हैं। वह अपने देशवासियों के समक्ष परम उत्तेजित होकर कहती है—"यदि राजकीय शासन का अर्थ हत्या और अत्याचार है, तो मैं व्यर्थ रानी बनना नहीं चाहती। मेरी प्रजा इस बर्बरता से जितना शीघ्र छुट्टी पावे, उतना ही अच्छा। (मुकुट उतारती हुई) यह लो, इस पाप-चिन्ह का बोझ अब मैं नहीं वहन कर सकती। यथेष्ट हुआ। प्यारे देशवासियो, लौट चलो, इस इन्द्रजाल की भयानकता से भागो। मदिरा से सिंचे हुए चमकीले स्वर्णवृक्ष की छाया से भागो।"

कामना विलास के सम्पर्क में आने पर अपना पूर्व गौरव भी बहुत कुछ खो देती है। वह अपने व्यवहारों से बहुतों की आलोचना एवं निन्दा का विषय बन जाती है। द्वीप की एक स्त्री उसकी आलोचना करती हुई कहती है—"केवल एक चमकीली वस्तु उसके सिर पर थी।......उसे सिर में बाँध कर कामना बड़ी इठलाती हुई मचरी बातें कर रही है।" विवेक खुले शब्दों में कामना की निन्दा

करता है—"मदिरा से ढुलकती हुई, वैभव के बोझ से दबी हुई, महत्वाकांक्षा की तृष्णा से प्यासी, अभिमान की मिट्टी की मूर्ति।"

यद्यपि यह यथार्थ है कि कामना ने विलास के सहवास में रह कर अपने पूर्व रूप को बहुत कुछ नष्ट कर दिया फिर भी उसके अन्तः-करण में स्वाभिमान एवं विवेक समय समय पर सजग हो जाते हैं। विनोद और लीला स्वर्ण से पराभूत हो जब विलास की दासता स्वीकार करते हैं तब मानों कामना तिलमिला कर कहती है—"नहीं, नहीं तुम इतने दीन होकर इस ज्वाला की भीख मत लो।" इसी प्रकार निरीह पशुओं की अकारण हत्या से आकुल होकर वह कहती है—"परन्तु विलास, देखो यह हरी-हरी घास रक्त से लाल रँगी जाकर भयानक हो उठी है, यहाँ का पवन भारा-क्रांत होकर दबे पाँव चलने लगा।" हत्या, व्यभिचार आदि दुर्वृत्तियों के अतिचार से कामना का विवेक अधिक पुष्ट होकर सजग होता है और वह विलास के कृत्रिम उपकरणों एवं आडम्बर-पूर्ण योजनाओं को एक साथ तिलांजलि दे देती है। कामना के उत्थान और पतन के साथ द्वीप का भी उत्थान पतन होता है। सन्तोष के कथनानुसार वह द्वीप में यथार्थ ही बड़ी 'प्रभावशालिनी' स्त्री है।

लीला

लीला स्वभाव से चंचल एवं नवीन वस्तुओं तथा व्यक्तियों से शीघ्र प्रभावित होने वाली युवती है। वह कामना की अत्यन्त विश्वासपात्र सहचरी है। स्वर्ण को देखकर उसकी चमक से वह अत्यन्त प्रभावित होती है और उसकी प्राप्ति के लिये उसके हृदय में तीव्र उत्कण्ठा सजग होती है। वह कामना के कहने से मदिरा भी पान करती है तथा उसके स्वाद और मादकता के कारण उसके प्रति उसकी सतृष्ण लालसा सदैव जागरूक रहती है। लीला का व्यक्तित्व विशेष प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण तो नहीं है किन्तु नारी समाज में कामना के पश्चात् द्वीप में उसका ही प्रभाव विशेष लक्षित होता है। कामना के बाद स्वर्ण और मदिरा को सर्वप्रथम अपनाने में उसी का स्थान है। विलास के निर्देश अङ्गीकार करने में कामना के पश्चात् वही अग्रणी है। वह मानों आँख बन्द कर विलास और कामना का अनुगमन करती है। लीला ही सर्वप्रथम कामना को रानी के रूप में स्वीकार करती है और समस्त द्वीप निवासी उसका अनुकरण करते हैं।

लीला पहिले तो विनोद को ही बहुत चाहती है पर कुछ समय के लिए उसका ध्यान उससे हट जाता है और सन्तोष को वह अपना पति बनाने के लिए उतावली प्रतीत होती है। वह बड़ी ललक से सन्तोष से कहती है—"हाँ प्रियतम! इस पूर्णिमा को हम लोग एक हो जाँयगे।" किन्तु कामना उसके स्वप्न को शीघ्र ही भङ्ग कर देती है। कामना से यह अवगत कर कि संतोष उसका निर्वाचित है वह विनोद से ही विवाह करने को बाध्य होती है। विवाह हो जाने पर विनोद के साथ लीला का दाम्पत्य जीवन अबाध रूप से व्यतीत होता है।

लीला स्वर्ण और सुरा के प्रभाव से इतना मदान्ध हो जाती है कि वह वन-लक्ष्मी के उपदेशपूर्ण आदेशों की सर्वथा उपेक्षा कर देती है। वन-लक्ष्मी उसे यह स्पष्ट संकेत देती है—"अभिशाप तो तुम स्वयं इस द्वीप को दे रही हो।" परन्तु लीला उस पर ही ईर्ष्या और जलन का अभियोग लगा कर उसकी भर्त्सना करने को उद्यत होती है। अन्त में वन लक्ष्मी उसे स्पष्ट रूप में समझाती हुई कहती है—"मेरी प्यारी-लीला! मान जा। कहे जाती हूँ, जिस दिन तूने उस चमकीली वस्तु के लिये हाथ पसारा, उसी दिन इस देश की दुर्दशा का प्रारम्भ होगा।" वनलक्ष्मी के इस कथन से द्वीप के पतन में लीला का भी दायित्व प्रकट होता है। लीला स्वर्ण एवं सुरा द्वारा सुख प्राप्ति में इतनी तल्लीन है कि वह विनोद की इस जिज्ञासा की भी अवहेलना कर देती है—"लीला, हम लोग कहाँ चले जारहे हैं, कुछ समझ रही हो?" किन्तु आगे चल कर जब वह लालसा को अपनी विषयवासना में विनोद को आवेष्टित करता हुआ देखती है और इस प्रकार जब उसके ही स्वार्थों में ठोकर लगती है तभी उसकी आखें खुलती है। वास्तविकता का यथार्थ अनुभव होने पर वह कामना के कण्ठ में कण्ठ मिलाकर कहती है—"जितने भूले भटके होंगे, वे इन्हीं पागलों के पीछे चलेंगे। हम अपने फूलों के द्वीप से काँटों को चुनकर निकाल बाहर करेंगे।" इस प्रकार लीला आत्मसुधार की ओर अग्रसर हो अपने द्वीपनिवासियों के सुसंस्कारों के पुनरुत्थान का पथ प्रशस्त करती है।

लालसा

शान्तिदेव की स्त्री लालसा अपने पति की दस्युओं द्वारा हत्या होने के पश्चात प्रभूत स्वर्णराशि की स्वामिनी होजाती है। सम्पत्ति प्राप्ति के साथ उसके हृदय में अधिकार एवं महत्व प्राप्त करने की आकांक्षा तीव्र रूप से जागृत होती है। वह अपनी कार्य सिद्धि के लिए विलास को ही अपना उपयुक्त साधन निर्धारित करती है—"मैं भी रानी हो सकती हूँ, यदि विलास को—हाँ, क्यों नहीं।" वह अपने वाक् विभ्रम, सङ्गीत और स्वर्ण की चमक से विलास को अपनाने में पूर्ण सफल होती है। अपराजित विलास, लालसा के समक्ष मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता है—"मुझ पर किसी स्त्री ने विजय नहीं पाई; परन्तु वह झूठा गर्व था। आज—"

विलास को अपने वश में करके लालसा द्वीप का संचालन सूत्र मानों कुछ समय के लिये अपने हाथों में ले लेती है। पड़ोसी प्रदेश में प्रभूत स्वर्णराशि का प्रलोभन दिखाकर वह विनोद और विलास के नायकत्व में उस पर सैनिक आक्रमण कराती है। उसकी प्रेरणा से शान्तिदेव के हत्यारों का न्याय-विधान होता है और अत्यन्त निर्ममतापूर्वक उनकी हत्या की जाती है। फूलों के द्वीप में आधुनिक सभ्यता के प्रतीक धर्मसंघ, न्यायालय एवं विषयवासना के विविध उपादानों की स्थापना में लालसा का बहुत बड़ा हाथ है।

लालसा अपने कार्य-साधन में अत्यन्त पटु है। वह बड़े कौशल से विलास को सर्वथा अपनी मुट्ठी में करती है। उसकी विषय-वासना अत्यन्त तीव्र है। विलास को युद्ध-भूमि में भेजकर

वह विनोद के साथ विषय-सुख प्राप्त करने के लिये तत्पर होती है। इतना ही नहीं, वरन् वह शत्रु-देश के सेनापति को देखकर उससे भयभीत होने के बजाय उसपर अनुरक्त हो जाती है। शत्रु-सेनापति उसकी प्रणय-भिक्षा को ठुकरा देता है। लालसा कुटिल कौशल द्वारा उसे उसकी अपहृत पत्नी वापस दिलाने का वचन देकर उसपर बलात्कार का झूठा अभियोग लगाती है और वह उसकी निर्दयता पूर्वक हत्या करा देती है। वैभव और वासना के पङ्क में फँसी हुई निर्लज्ज नारी के सभी दोष और दुर्गुण लालसा में मानों कूट-कूट कर भरे हैं।

फूलों के द्वीप में विलास के गौरव-विहीन होने के साथ ही लालसा का भी प्रभुत्व मिट जाता है और वह विलास के साथ ही 'अनन्त समुद्र में, काल के काले परदे में,' स्थान पाने के लिये द्वीप से निकल पड़ती है।

कुटिलता, क्रूरता और विलासिता में लालसा अप्रतिम है। विलास ऐसे छद्मवेशी एवं कुटिल व्यक्ति को अपने वाक्-भ्रम तथा कटाक्षपात से शक्तिहीन कर उसे अपना सर्वथा अनुगत बना लेना उसके व्यक्तित्व की प्रभविष्णुता को सूचित करता है। महत्वाकांक्षाओं की दौड़ में भी वह विलास से पीछे नहीं है। पड़ोसी प्रदेश पर आक्रमण करवाने तथा नव-नगर-निर्माण में लालसा का ही प्रमुख हाथ है। लालसा की विलासिता के सम्मुख तो विलास भी मात खा जाता है। वह उसे शत्रु-सेनापति से प्रणय-भीख माँगते हुए देखकर भी उसके विरुद्ध कुछ नहीं करता। जिस तरह कामना, विलास के हाथ की कठपुतली बन कर अपना व्यक्तित्व खो बैठती है उसी प्रकार विलास भी लालसा को अपना कर आत्म-गौरव से वञ्चित हो जाता है। लालसा अपने साथ विलास को भी ले डूबती है।

करुणा

'कामना' नाटक में करुणा चरित्र का विकास अपेक्षाकृत स्वल्प होने पर भी उसका चित्रण बड़ा मर्मस्पर्शी है। वह शान्तिदेव की बहिन है। शान्दिेव की मृत्यु के पश्चात लालसा उसकी समस्त सम्पत्ति पर अधिकार कर लेती है। करुणा द्वीप में नितान्त अकिञ्चन एवं उपेक्षित जीवन व्यतीत करती है। द्वीप में 'जीवन के समस्त प्रश्नों के मूल में अर्थ का प्राधान्य' हो जाने के कारण उसे जङ्गली फलों पर ही निर्वाह करना पड़ता है। वह सन्तोष के समक्ष अपनी दयनीय दशा का हृदय द्रावक वर्णन करती हुई कहती है—"मैं अपनी निर्धनता के आँसू पीकर सन्तोष करती हूँ और लौटकर इसी कुटीर में पड़ रहती हूँ।"

समस्त द्वीप में करुणा की दयनीय दशा से द्रवित होकर उसके प्रति सच्ची सहानुभूति करने वाला व्यक्ति केवल सन्तोष है। वह उसे अपनी बहिन बनाकर उसके दुःखों में हाथ बटाने का वचन देता है। सन्तोष अपने शारीरिक कष्टों की किञ्चित परवाह न कर उसके खेतों में काम करता है। करुणा भी सन्तोष के प्रति बड़ा ममत्व रखती है। सन्तोष के घायल होने पर वह उसे चिकित्सक के यहाँ अनेक कठिनाइयों का सामना करती हुई लेजाती है। द्वीप के विलासी और स्वार्थी युवक करुणा और सन्तोष की दुःखपूर्ण परिस्थिति से लाभ उठाना चाहते हैं। क्रूर, सन्तोष की चिकित्सा के बहाने उसके रोग को बढ़ाकर उससे लंबी रकम ऐंठने की चेष्टा करता है और दम्भ, करुणा को प्रमदा के देवदासी दल में सम्मिलित करने का कुचक्र रचता है। विवेक की सहायता से दोनों के प्राण और सम्मान की रक्षा होती है।

नाटकीय दृष्टि से करुणा का चरित्र अत्यन्त सामान्य कोटि का है। नाटक के वस्तु—विकास में उसकी जीवन घटनाओं का विशेष योग नहीं है और सन्तोष के चरित्र को छोड़कर नाटक के किसी अन्य प्रधान पात्र के चरित्र विकास में भी उसका प्रभाव नहीं है। नाटककार ने वस्तुतः नवीन सभ्यता के विकास में सात्विक नारी-जीवन की कष्टमय स्थिति का मार्मिक निदर्शन करुणा के चरित्र में कराया है। करुणा के कष्टमय जीवन का हृदयग्राही प्रत्यक्षीकरण होने से वह सामाजिकों की सहानुभूति प्राप्त करने में यथार्थतः पूर्ण सफल है।

वररुचि (कात्यायन)

नन्द सदृश क्रूर, विलासी एवं विवेकशून्य राजा का मन्त्री होकर भी वररुचि ने सदैव न्याय एवं सत्य का समर्थन किया। तक्षशिला के स्नातकों की परीक्षा लेना वह अस्वीकार करता है क्योंकि वह स्वयं वहाँ पढ़ चुका है और समझता है कि वहाँ के उत्तीर्ण छात्रों की परीक्षा लेना वहाँ के शिक्षकों का अपमान करना है। वह मौर्य्य पत्नी के प्रति, नन्द द्वारा किए गए दुर्व्यवहार का तीव्र विरोध करता है और स्वयं विरोधस्वरूप पदत्याग करता है।

वररुचि अध्ययनशील, विद्याव्यसनी एवं उदार सहृदय ब्राह्मण है। वह चाणक्य के पास वन्दीगृह में राक्षस के साथ इसी प्रेरणा से जाता है कि उसे चाणक्य से वार्तिक लिखाने में सहायता मिलेगी। अपने अध्ययन के लिए मन्त्रिकार्य्य छोड़ कर वह पुनः तक्षशिला जाता है और अपना कार्य्य पूरा करता है।

उसका हृदय क्षमाशील और उदार है। नन्द ने यद्यपि उसे भी अन्धकूप में डाला, किन्तु फिर भी वह चाणक्य से यही कहता है—

"नन्द की भूल थी। वह अब भी सुधारा जा सकता है। ब्राह्मण! क्षमानिधि! भूल जाओ।" केवल वररुचि ही नन्द की हत्या पर 'अनर्थ'! कहकर अपना क्षोभ प्रकट करता है।

वररुचि पारस्परिक फूट और भेदभाव को रोकने की सतत चेष्टा करता है। राक्षस ने, विजयोत्सव न मनाने के कारण, जो द्वेष की आँधी चलाई उसका उसने विरोध किया—"जो कार्य बिना आडम्बर के हो जाय वही तो अच्छा है।" वह चाणक्य के आग्रह पर चन्द्रगुप्त और यवन वाला के परिणय में आचार्य वन कर अपनी सहृदयता का परिचय देता है।

मनोहर रूप ही उसके प्रेम का आलंबन नहीं वरन् वह उसकी सहज उदार प्रकृति, सौजन्यपूर्ण व्यवहार और साहसपूर्ण शक्ति की निरन्तर अनुभूति पर आश्रित है। सिल्यूकस के प्रति चन्द्रगुप्त का जो शिष्टाचारपूर्ण शीलव्यंजक व्यवहार है तथा सिकन्दर के समक्ष उसने जिस निर्भीकतापूर्ण साहस एवं पराक्रम का परिचय दिया वह कार्नेलिया के मानस में चिर प्रतिष्ठित हो उसके प्रेम-बीजक को निरन्तर विकसित करता रहा। उसका प्रेम एक आकस्मिक घटना नहीं है और न उसमें उच्छृंखल आवेग ही है। उसका आधार दृढ़ है और उसमें संयम तथा गंभीरता है। वह 'प्रेम में स्मृति का सुख अनुभव' करती है तथा उसके हृदय में एक टीस उठती है 'जिसे' वह प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। उसने अपने प्रेम का आभास ही केवल सुवासिनी को दिया—"सखी मदिरा की प्याली में तू स्वप्न सी लहरों को मत आन्दोलित कर। स्मृति बड़ी निष्ठुर है। यदि प्रेम ही जीवन का सत्य है तो संसार ज्वाला है।" उसका पिता चन्द्रगुप्त के साम्राज्य पर आक्रमण करता है। अपने प्रिय की अमंगल कल्पना से उसका शील और हृदय क्षुब्ध हो उठता है, पर वह संयम का त्याग नहीं करती। वह इस अभियान के प्रति सहानुभूतिपूर्ण आकुलता व्यक्त कर अपने पिता को उससे विरत करने की चेष्टा करती है—

"पिताजी उसी चन्द्रगुप्त से युद्ध होगा, जिसके लिए उस साधु ने भविष्यवाणी की थी। वही तो भारत का राजा हुआ न?"

"पिता जी, आप ही ने मृत्युमुख से उसका उद्धार किया था और उसी ने आपके प्राणों की रक्षा की थी?"

युद्ध होना निश्चित जानकर वह अपना साहस बटोर कर परिस्थितियों का सामना करने को प्रस्तुत हो जाती है। आत्म-सम्मान के लिए चरम प्रतिकार रूप प्राणविसर्जन में भी उसे हिचक नहीं है। नारी का आत्मसम्मान उसकी सबसे बड़ी निधि है। उसकी

रक्षा के लिए वह बड़ा से बड़ा मूल्य चुका सकती है। कार्नेलिया उस मूल्य के चुकाने का जैसे ही उपक्रम करती है कि उसका प्रियतम सहसा उपस्थित हो उसे जीवन का उपहार प्रदान करता है।

'प्रसाद' की कार्नेलिया का केवल वाह्य रूप विदेशी है। आभ्यंतर स्थित भावना और प्रकृति सर्वथा भारतीय है।

वररुचि के कथनानुसार "वह यवनबाला सिर से लेकर पैर तक आर्य-संस्कृति में पगी है।" चाणक्य ने इसी को पहिचानकर उसे भारत की साम्राज्ञी बनाया।

सुवासिनी

'कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम', सुन्दरता की रानी सुवासिनी को हम सर्वप्रथम नन्द की नाट्यशाला में देखते हैं। नन्द उस पर अनुरक्त हो उसे अपनी भोग्या बनाना चाहता है, किन्तु सुवासिनी उसका प्रतिकार करती है। वह "नन्द की विलास लीला का क्षुद्र उपकरण बनकर नहीं रहना चाहती"। वह नन्द की रङ्गशाला में पितृ-वंचिता अनाथ होकर जीविका के ही लिए गई थी। सुवासिनी विलास की इच्छा से वहाँ नहीं गई।

राक्षस के प्रति उसका प्रेम स्वभाव एवं गुण साम्य पर आश्रित है। राक्षस कलाविद् एवं संगीतज्ञ है तो सुवासिनी नाट्यशाला में केवल सुन्दरता के बल पर ही नहीं, वरन् अपने सङ्गीत और कला के प्रदर्शन से सब के आकर्षण की वस्तु है। वह राक्षस को हृदय से चाहती है। उसे किसी प्रकार का प्रलोभन या भय अपने प्रेम मार्ग से विरत नहीं कर सकता। वह अपने प्रणयी को 'खोजने के लिए स्वर्ग तक जाने को प्रस्तुत है।' राक्षस के प्रति उसका प्रेम अगाध है किन्तु उसमें संयम का अभाव नहीं है। सुवासिनी ने अपना हृदय उसे दिया और परिणय सम्बन्ध भी स्वीकार किया। नन्द द्वारा पहुँचाई हुई 'बाधा एक क्षण और रुकी रहती तो' दोनों 'सामाजिक नियम के बन्धन से बंध गये होते।' इसी बीच में उसके पिता शकटार का कारागार से मुक्त होकर प्रकट हो जाना एक पारिवारिक समस्या उपस्थित कर देता है। उसके लिए 'अब पिता जी की अनुमति आवश्यक हो गई है। वह नहीं चाहती कि उसके चिर-दुखी पिता को, उसके किसी स्वेच्छापूर्ण आचरण से, मानसिक कष्ट हो। वह राक्षस से बड़े विनीत भाव से कहती है—

"मैं तुम्हारा प्रणय अस्वीकार नहीं करती। किन्तु अब इसका प्रस्ताव पिता जी से करो ....।"

सुवासिनी के प्रणय में चाणक्य की स्मृति भी क्षणिक व्यवधान रूप से प्रस्तुत हो जाती है। चाणक्य सुवासिनी से बाल्यकाल से ही परिचित है। दोनों में परस्पर बालसहचर्य्य सम्भूत प्रेम एवं सहानुभूति भी पर्य्याप्त है। चाणक्य की प्रेममयी दृष्टि भी उस पर पड़ जाती है। किन्तु सुवासिनी के भ्रूभंग मात्र से ही चाणक्य अपना मन फेर लेता है। वह समझ जाता है कि सुवासिनी का 'प्रणय, स्त्री और पुरुष के रूप में केवल राक्षस से अंकुरित हुआ" और उसके "शैशव का वह सब केवल हृदय की स्निग्धता थी।" अतः चाणक्य ही सुवासिनी को राक्षस के साथ परिणय की अनुमति देकर उस समस्या को हल कर देता है।

सुवासिनी में भाव स्निग्धता के साथ ही वाक् चातुरी और कार्य्यपटुता भी पर्य्याप्त है। चाणक्य ने उसके इस गुण को लक्षित कर ही उसे कार्नेलिया का चन्द्रगुप्त के प्रति मनोभाव अवगत करने और राक्षस को पुनः भारत लाने के लिए ग्रीक शिविर में भेजा था। उसने अपनी वाक्चातुरी से राजकुमारी का ध्यान शीघ्र ही अपनी ओर आकर्षित कर लिया, उसकी सखी बनकर अपना मनोरथ पूर्ण किया तथा साथ ही राक्षस को युक्तिपूर्ण ढंग से पुनः यवन शिविर से निकाल कर भारतीय सीमा में ले आई।

सुवासिनी

'कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम', सुन्दरता की रानी सुवासिनी को हम सर्वप्रथम नन्द की नाट्यशाला में देखते हैं। नन्द उस पर अनुरक्त हो उसे अपनी भोग्या बनाना चाहता है, किन्तु सुवासिनी उसका प्रतिकार करती है। वह "नन्द की विलास लीला का क्षुद्र उपकरण बनकर नहीं रहना चाहती"। वह नन्द की रङ्गशाला में पितृ-वंचिता अनाथ होकर जीविका के ही लिए गई थी। सुवासिनी विलास की इच्छा से वहाँ नहीं गई।

राक्षस के प्रति उसका प्रेम स्वभाव एवं गुण साम्य पर आश्रित है। राक्षस कलाविद् एवं संगीतज्ञ है तो सुवासिनी नाट्यशाला में केवल सुन्दरता के बल पर ही नहीं, वरन् अपने सङ्गीत और कला के प्रदर्शन से सब के आकर्षण की वस्तु है। वह राक्षस को हृदय से चाहती है। उसे किसी प्रकार का प्रलोभन या भय अपने प्रेम मार्ग से विरत नहीं कर सकता। वह अपने प्रणयी को 'खोजने के लिए स्वर्ग तक जाने को प्रस्तुत है।' राक्षस के प्रति उसका प्रेम अगाध है किन्तु उसमें संयम का अभाव नहीं है। सुवासिनी ने अपना हृदय उसे दिया और परिणय सम्बन्ध भी स्वीकार किया। नन्द द्वारा पहुँचाई हुई 'बाधा एक क्षण और रुकी रहती तो' दोनों 'सामाजिक नियम के बन्धन से बंध गये होते।' इसी बीच में उसके पिता शकटार का कारागार से मुक्त होकर प्रकट हो जाना एक पारिवारिक समस्या उपस्थित कर देता है। उसके लिए 'अब पिता जी की अनुमति आवश्यक हो गई है। वह नहीं चाहती कि उसके चिर-दुखी पिता को, उसके किसी स्वेच्छापूर्ण आचरण से, मानसिक कष्ट हो। वह राक्षस से बड़े विनीत भाव से कहती है—

"मैं तुम्हारा प्रणय अस्वीकार नहीं करती। किन्तु अब इसका प्रस्ताव पिता जी से करो ....।"

सुवासिनी के प्रणय में चाणक्य की स्मृति भी क्षणिक व्यवधान रूप से प्रस्तुत हो जाती है। चाणक्य सुवासिनी से बाल्यकाल से ही परिचित है। दोनों में परस्पर बालसहचर्य्य सम्भूत प्रेम एवं सहानुभूति भी पर्य्याप्त है। चाणक्य की प्रेममयी दृष्टि भी उस पर पड़ जाती है। किन्तु सुवासिनी के भ्रूभंग मात्र से ही चाणक्य अपना मन फेर लेता है। वह समझ जाता है कि सुवासिनी का 'प्रणय, स्त्री और पुरुष के रूप में केवल राक्षस से अंकुरित हुआ" और उसके "शैशव का वह सब केवल हृदय की स्निग्धता थी।" अतः चाणक्य ही सुवासिनी को राक्षस के साथ परिणय की अनुमति देकर इस समस्या को हल कर देता है।

सुवासिनी में भाव स्निग्धता के साथ ही वाक् चातुरी और कार्य्यपटुता भी पर्य्याप्त है। चाणक्य ने उसके इस गुण को लक्षित कर ही उसे कार्नेलिया का चन्द्रगुप्त के प्रति मनोभाव अवगत करने और राक्षस को पुनः भारत लाने के लिए ग्रीक शिविर में भेजा था। उसने अपनी वाक्चातुरी से राजकुमारी का ध्यान शीघ्र ही अपनी ओर आकर्षित कर लिया, उसकी सखी बनकर अपना मनोरथ पूर्ण किया तथा साथ ही राक्षस को युक्तिपूर्ण ढंग से पुनः यवन शिविर से निकाल कर भारतीय सीमा में ले आई।

कल्याणी

मगध की राजकुमारी कल्याणी वीरता, साहस और आत्म-सम्मान की भावनाओं से ओत प्रोत है। वह नंद के विलास पूर्ण राजमहलों में पली है किन्तु कुत्सित विलास की छाया उसके व्यक्तित्व को छू तक नहीं गई। वह नारी है किन्तु नारी-भीरुता के स्थान पर उसमें साहस एवं वीरता सम्यक् रूप से विद्यमान है। पर्व्वतेश्वर ने उससे विवाह सम्बन्ध करना अस्वीकार कर दिया है। उसका स्वाभिमान गरज उठता है। उसका पिता द्वेषवश पर्व्वतेश्वर को पंचनद युद्ध में सैनिक सहायता देना अस्वीकार करता है किन्तु कल्याणी पर्व्वतेश्वर से प्रतिशोध लेने तथा उसे नीचा दिखाने के लिये एक गुल्म सेना लेकर स्वयं रणभूमि के लिए प्रस्थान करती है। घनघोर युद्ध के पश्चात् जब पर्व्वतेश्वर अपनी विवशता स्वीकार करता है तब भी कल्याणी उसे युद्ध करने के लिए ललकारती है:—

"इन थोड़े से अर्धजीवी यवनों को विचलित करने के लिए पर्य्याप्त मगध सेना है। महाराज! आज्ञा दीजिए।"

उसकी यह साहसपूर्ण एवं वीरदर्पमयी उक्ति पर्व्वतेश्वर को भयंकर भाले के आघात से भी अधिक मर्माहत करती है और वह अपनी 'निकृष्ट पराजय' पुकार उठता है।

मगध की क्रान्ति के समय भी कल्याणी ही पर्व्वतेश्वर के विरुद्ध नगरावरोध का भार उठाती है। वह इसमें पर्व्वतेश्वर के हाथों बन्दी होकर असफल अवश्य हुई किन्तु उसका यह कार्य भी उसके असीम साहस एवं रणोत्साह का परिचायक है।

कल्याणी के जीवन का मधुरपक्ष अत्यंत निराशापूर्ण एवं दुःखद है। वह अपने बाल-सहचर चन्द्रगुप्त को ही अपने परिणय के उप-

शुरू समझती है। तक्षशिला से विद्या प्राप्त कर तथा चीते से उसकी रक्षा कर चन्द्रगुप्त ने अपनी योग्यता और वीरता की छाप उसके हृदय पर लगा दी है। वह पंचनद युद्ध में पर्वतेश्वर से प्रतिशोध लेने के साथ ही चन्द्रगुप्त को देखने के लिए जाती है। वह अपने इस अन्तर्भाव को चन्द्रगुप्त के सामने ही व्यक्त करती है—"केवल तुम्हें देखने के लिए! मैं जानती थी कि तुम युद्ध में अवश्य सम्मिलित होगे—"

कल्याणी के गौरवपूर्ण व्यक्तित्व एवं उसके कोमल हृदय को उसके निकटतम सम्बन्धियों ने नहीं पहचाना। चन्द्रगुप्त की बात न मान कर उसके पिता ने उसके अनुरोध की अवहेलना की और चन्द्रगुप्त उसके प्रेम को उसके जीवन के अन्तिम क्षण में ही पहिचान सका। कल्याणी के करुणा-कलित हृदय का परिचय हमें उसकी एक स्वगतोक्ति में मिलता है—

'मेरे जीवन सुख के दो स्वप्न थे—दुर्दिन के बाद आकाश के नक्षत्र-विलास सी चन्द्रगुप्त की छवि, और पर्वतेश्वर से प्रतिशोध, किन्तु राजकुमारी आज अपने ही उपवन में बंदिनी है। जीवन लज्जा की रंगभूमि बन रहा है।" कल्याणी ने जीवन में पर्वतेश्वर से भर पूर प्रतिशोध लिया। पशु के समान विलासी और मद्यपी पर्वतेश्वर उसे अपने विलास की सामग्री, बलपूर्वक बनाना चाहता था। यह उसे असह्य हो उठा और उसने उसका वध कर अपना प्रतिशोध पूरा किया।

चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम की अनन्यता होते हुए भी पितृ भक्ति और आत्म-सम्मान की भावना के कारण उसने उस प्रेम-पीड़ा को भी दबा दिया। चन्द्रगुप्त उसके पिता नंद का विरोधी था, अतः वह उसके साथ परिणय न कर आत्महत्या कर लेती है।

कल्याणी का चरित्र आदि से लेकर अन्त तक द्वन्द्व एवं दुःख से पूर्ण है। उसने नारी होते हुए भी साहस के साथ परिस्थितियों का सामना किया और आगे बढ़ने की चेष्टा की। अपने वंश की मर्य्यादा और आत्म सम्मान को सदैव ऊँचा रखा और उसी की रक्षा हेतु आत्म बलि देकर उसने अपने दुःखमय जीवन का दुःखद अन्त किया। 'प्रसाद' जी कल्याणी का चन्द्रगुप्त से परिणय प्रदर्शित न कर उसके भावुक एवं बलिदानमय चरित्र के प्रति सामाजिकों की चिरकालीन सहानुभूति सचेष्ट कर देते हैं। कलात्मक दृष्टि से यह उनकी महान सफलता है।

मालविका

'चन्द्रगुप्त' नाटक के स्त्री-पात्रों में मालविका के चरित्र का विकास और अवसान उसकी प्रथम स्वगतोक्ति के अन्तर्गत वर्णित उन फूलों के समान है जो 'हँसते हुए आते हैं, फिर मकरंद गिरा कर मुरझा जाते हैं'। चन्द्रगुप्त के शब्दों में वह 'स्वर्गीय कुसुम' है अतः वह अलौकिक स्नेह, सहानुभूति एवं सेवा रूपी परिमल और पराग चतुर्दिक विकीर्ण करती हुई प्रेम और परमार्थ की वेदी पर आत्मवलि चढ़ा कर अनंत में तिरोहित हो जाती है।

मालविका शस्य-श्यामल-सिंधु देश की निवासिनी है। वहाँ के सुसंस्कृत एवं प्रकृत वातावरण में वह रही है। उसका कोई कुटुम्वी, उसका पृष्ठपोषक नहीं है किन्तु उसकी सहानुभूति प्रत्येक सात्विक संवेदना-पूर्ण व्यक्ति के साथ है। 'तक्षशिला में राजकुमारी अलका से कुछ ऐसा स्नेह हुआ कि वहीं रहने लगी'। फिर मालविका घायल सिंहरण की सेवा के लिए नियुक्त हुई और उनकी सहृदयता से भी वह अत्यन्त प्रभावित हुई। वह जिनके भी सम्पर्क में आती है उनके साथ उसकी प्रगाढ़ आत्मीयता हो जाती है जो उसके सरल एवं सहानुभूति-पूर्ण हृदय की परिचायक है। मालविका को किसी से द्वेष तथा किसी से भय नहीं है। वह विपन्न की सेवा ही अपना मुख्य धर्म समझती है। मालव के युद्ध में घायलों की सेवा का कार्य अपने ही हाथ में लेती है। सच्चा सेवा-व्रती किसी भी प्रकार की हिंसा से अपने को वहुत दूर रखेगा। वह शस्त्र-वल से नहीं आत्म-वल से सेवा-व्रत-धर्म पालन करता है। सच्चे अहिंसावादी एवं सेवा-व्रती का यही यथार्थ स्वरूप है। मालविका उसका अच्छा उदाहरण है। वह प्राणों के भय से छुरी या शस्त्र रखने में नहीं डरती। प्राण

तो उसके लिए 'धरोहर है, जिसका होगा वही ले लेगा, भय से इसकी रक्षा करने की आवश्यकता,' वह नहीं समझती। सेवा-व्रती होने के कारण वह अलका के समक्ष रक्त की प्यासी छुरी से घृणा करती है एवं डरती है।

मालविका की सहानुभूति तो सबके साथ है किन्तु उसकी प्रणय भावना चन्द्रगुप्त के प्रति ही जाग्रत होती है। वह चन्द्रगुप्त की वीरताव्यंजक मनोहर मूर्ति को प्रथम दर्शन के पश्चात ही अपने स्नेह से स्निग्ध हृदय में अधिष्ठित करती है। चन्द्रगुप्त भी उसकी सरलता पर मुग्ध होता है। सात्विक प्रेम अपने आलंबन के उत्कर्ष का अभिलाषी होता है और वही आश्रय को भी प्रेमालंबन के सहकार के लिए प्रेरित करता है। मालविका में चन्द्रगुप्त के प्रति सात्विक प्रेम है। वह चन्द्रगुप्त के उत्कर्ष के लिए असत्य बोलने के लिए भी तैयार हो जाती है। चाणक्य के आदेश से वह नंद की रंगशाला में जाती है। वहाँ वह छल पूर्ण अभिनय द्वारा नंद के हृदय में राक्षस के प्रति द्वेष और दुर्भाव जाग्रत करती है। मालविका का चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम वासना रहित है। वह चन्द्रगुप्त को 'साधारण-जन-सुलभ दुर्बलता' से बचाती है। उसका प्रेम नैतिक दृष्टि से आदर्श रूप में अङ्कित है।

प्रेम का चरम उत्कर्ष आलंबन की निरंतर कामना करते हुए उसके लिए आत्म-विसर्जन कर देने में है। मालविका अपने प्रेम में उसी स्थिति को प्राप्त करती है। आर्य्य चाणक्य की आज्ञा है—"आज घातक इस शयनगृह में आवेंगे, इसीलिए चन्द्रगुप्त यहाँ न सोने पावे और वे षड़यन्त्रकारी पकड़े जाँय।" अपनी मृत्यु को निश्चित जानकर भी वह सहर्ष प्राणान्तकारी परिस्थितियों में अपने को रख देती है। इस प्रकार प्रेम की वेदी पर आत्म बलिदान देकर मालविका परम गौरवपूर्ण पद प्राप्त करती है।

अलका

स्वदेशानुराग, साहस, वीरता एवं चातुर्य्य से विभूषित अलका को 'चन्द्रगुप्त' की प्रभावशाली व्यक्तित्वयुक्त स्त्री-पात्र जोन-आफ-आर्क (Jone of Arc) कह सकते हैं। अलका सिंहरण, चन्द्रगुप्त और चाणक्य से प्रभावित हो स्वदेश सेवा को अपना लक्ष्य निर्धारित करती है। उसके पिता और भाई विदेशियों से अभिसंधि कर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु वह यवन अभियान द्वारा प्रतिफलित भारत की दुर्दशा का अनुमान कर उसे रोकने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होती है। वह अपने परिवार के देशद्रोह की सरिता को रोकने के लिए चट्टान रूप दृढ़ हो जाती है। उसका भाई यवनों की सहायतार्थ उद्भाण्ड में सिंधु पर सेतु बनवा रहा है। अलका उसका मानचित्र बनवाकर देशभक्त सिंहरण को देती है। इस मानचित्र के ही प्रसंग में उसकी निर्भीकता, साहस एवं चातुरी का भी पर्य्याप्त परिचय मिलता है। उसने यवन को अपने साहस और निर्भीकता से ही मालविका से मानचित्र हस्तगत करने से रोका। वह सिंहरण के सहयोग से अपने उद्देश में पूर्ण सफल होती है और वह मानचित्र सिंहरण को सौंप कर अपने प्रथम उत्तरदायित्व को सफलता पूर्वक निभाती है।

वह स्वदेश हित अपने परिजनों से विद्रोह कर प्राणपण से देश सेवा और देशरक्षा के कार्य में लगती है। वह दाण्डयायन से चन्द्रगुप्त और चाणक्य के विषय में जो शंका व्यक्त करती है वह उसकी उत्कट देशभक्ति का परिचायक है। अलका विविध परिस्थितियों में अपने को रखकर देश सेवा के लिए उद्योग करती है। वह पर्व्वतेश्वर की सेना में नट नटी के रूप में जाकर सफलता पूर्वक अपना कार्य्य करती है।

अलका मालव दुर्ग की रक्षा में एक सैनिक की भाँति तत्पर है। अपने पराक्रम से ही अनेक यवन सैनिकों को धराशायी कर वह सिकन्दर पर भी प्रहार करती है। अलका सिल्यूकस के आक्रमण के समय आर्य्य-पताका लिए स्वदेश-प्रेम के गीत गाते हुए एवं अपनी ओजस्विनी वक्तृताओं द्वारा जनता में उत्साह फैलाते हुए सैन्य संगठन का कार्य्य करती है। आम्भीक भी उसके इस स्वदेशानुरागपूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित हो अपने पूर्व कार्य्यों के लिए लज्जित होता है। स्वयं चाणक्य अलका के स्वदेश हित त्याग और कष्ट के लिए भूरि भूरि सराहना करता है।

"मेरी लक्ष्मी—अलका ने आर्य्य गौरव के लिए क्या क्या कष्ट नहीं उठाए।"

'प्रसाद' ने अलका के चरित्र में उसके प्रेम का आलम्बन उसी के समान स्वदेशानुरागी साहसी एवं वीर व्यक्ति रखा। सिंहरण और आम्भीक की बातचीत ही में अलका प्रथम की निर्भीक, स्वतंत्र एवं साहसी प्रकृति से परिचित होकर उसके प्रति आकर्षित होती है। अनेक बार के सहवास और सहकार से परस्पर घनिष्टता बढ़ जाती है। पर्व्वतेश्वर के कारागार में तो पारस्परिक प्रेम का स्पष्ट परिचय दोनों को मिल जाता है। चाणक्य ने दोनों को वैवाहिक बन्धन में समारोह पूर्वक बाँध कर उसके प्रेम की सार्थकता सिद्ध की।

अलका में वाक्चातुरी तथा कार्य्य कुशलता यथेष्ट परिमाण में है। वह वन-प्रदेश में सिल्यूकस को चकमा देकर उसके चंगुल से निकल जाती है। पर्व्वतेश्वर को अपने वाग्जाल में फाँस कर वह थोड़े समय के लिए पंचनद की अधीश्वरी बनती है तथा इस प्रकार वह सिंहरण को कारागार से मुक्ति दिला कर पर्व्वतेश्वर की सिकन्दर के लिए सैनिक सहायता भी बहुत कुछ रुकवा लेती है। समष्टि रूप से 'चन्द्रगुप्त' में अलका के चरित्र का सफल निर्वाह हुआ है।

स्कन्दगुप्त नाटक का धीरोदात्त नायक है। वह गम्भीर, धैर्य्यवान, पराक्रमी, शीलवान, विनीत, दृढ़संकल्पवान, निरभिमान, और मृदुभाषी है। 'प्रसाद' ने उसके महान व्यक्तित्व में अनासक्तिमय प्रत्यक्ष कर्मवाद की मंजुल झाँकी प्रस्तुत की है। निष्काम भाव से जीवन के कठोर कर्म्म क्षेत्र में वह अवतीर्ण होता है। जल में कमल पत्र की भाँति निर्लिप्त भाव से वह जीवन के विविध व्यापारों में निरन्तर संघर्ष करता है। अन्त में वह अपने अतुलनीय पराक्रम से उपार्जित साम्राज्य को अपने भाई पुरगुप्त को दानकर पूर्णतया निष्काम हो जाता है। उसके चरित्र के सम्बन्ध में डा० जगन्नाथ प्रसाद का यह गम्भीर निष्कर्ष सर्वथा मान्य है—"नाटककार ने उसमें पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्य और भारतीय साधरणीकरण का सुन्दर समन्वय किया है"।

तितिक्षा और विराग की अविरल धारा में संतरण करते हुए भी स्कन्दगुप्त आर्य्य साम्राज्य के संगठन, रक्षा और उद्धार में जिस साहस, धैर्य्य, पराक्रम और उत्साह से प्रवृत्त होता है वह उसके व्यक्तित्व की महान विचित्रता है। सम्राट होकर भी साधारण सैनिक जीवन की स्पृहा, विपत्तियों के वात्याचक्र में फंसे रहने पर भी शरणार्थी की सहायता के लिए सद्यः प्रस्तुत होना, गुरुजनों एवं परिजनों के प्रति सदैव शील एवं विनययुक्त आचरण करना भारतीय सामान्य जीवन के अनुपम उदाहरण हैं। स्कन्दगुप्त अपने अनुपम शील सौजन्य, उदारता एवं कर्त्तव्य-निष्ठा आदि से भारतीयता का प्रतीक बन जाता है।

स्कन्दगुप्त के चरित्र में आरम्भ से ही विरागपूर्ण भावना का चित्रण है। अधिकार सुख को वह मादक और

अलका मालव दुर्ग की रक्षा में एक सैनिक की भाँति तत्पर है। अपने पराक्रम से ही अनेक यवन सैनिकों को भगाशायी कर वह सिकन्दर पर भी प्रहार करती है। अलका सिल्यूकस के आक्रमण के समय आर्य्य-पताका लिए स्वदेश-प्रेम के गीत गाते हुए एवं अपनी ओजस्विनी वक्तृताओं द्वारा जनता में उत्साह फैलाते हुए सैन्य संगठन का कार्य्य करती है। आम्भीक भी उसके इस स्वदेशानुरागपूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित हो अपने पूर्व कार्य्यों के लिए लज्जित होता है। स्वयं चाणक्य अलका के स्वदेश हित त्याग और कष्ट के लिए भूरि भूरि सराहना करता है।

"मेरी लक्ष्मी—अलका ने आर्य्य गौरव के लिए क्या क्या कष्ट नहीं उठाए।"

'प्रसाद' ने अलका के चरित्र में उसके प्रेम का आलम्बन उसी के समान स्वदेशानुरागी साहसी एवं वीर व्यक्ति रखा। सिंहरण और आम्भीक की बातचीत ही में अलका प्रथम की निर्भीक, स्वतंत्र एवं साहसी प्रकृति से परिचित होकर उसके प्रति आकर्षित होती है। अनेक बार के सहवास और सहकार से परस्पर घनिष्टता बढ़ जाती है। पर्व्वतेश्वर के कारागार में तो पारस्परिक प्रेम का स्पष्ट परिचय दोनों को मिल जाता है। चाणक्य ने दोनों को वैवाहिक बन्धन में समारोह पूर्वक बाँध कर उसके प्रेम की सार्थकता सिद्ध की।

अलका में वाक्चातुरी तथा कार्य्य कुशलता यथेष्ट परिमाण में है। वह वन-प्रदेश में सिल्यूकस को चकमा देकर उसके चंगुल से निकल जाती है। पर्व्वतेश्वर को अपने वाग्जाल में फाँस कर वह थोड़े समय के लिए पंचनद की अधीश्वरी बनती है तथा इस प्रकार वह सिंहरण को कारागार से मुक्ति दिला कर पर्व्वतेश्वर की सिकन्दर के लिए सैनिक सहायता भी बहुत कुछ रुकवा लेती है। समष्टि रूप से 'चन्द्रगुप्त' में अलका के चरित्र का सफल निर्वाह हुआ है।

स्कन्दगुप्त

स्कन्दगुप्त नाटक का धीरोदात्त नायक है। वह गम्भीर, धैर्य्यवान, पराक्रमी, शीलवान, विनीत, दृढ़संकल्पवान, निरभिमान, और मृदुभाषी है। 'प्रसाद' ने उसके महान व्यक्तित्व में अनासक्तिमय प्रत्यक्ष कर्मवाद की मंजुल झाँकी प्रस्तुत की है। निष्काम भाव से जीवन के कठोर कर्म्म क्षेत्र में वह अवतीर्ण होता है। जल में कमल पत्र की भाँति निर्लिप्त भाव से वह जीवन के विविध व्यापारों में निरन्तर संघर्ष करता है। अन्त में वह अपने अतुलनीय पराक्रम से उपार्जित साम्राज्य को अपने भाई पुरगुप्त को दानकर पूर्णतया निष्काम हो जाता है। उसके चरित्र के सम्बन्ध में डा० जगन्नाथ प्रसाद का यह गम्भीर निष्कर्ष सर्वथा मान्य है—"नाटककार ने उसमें पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्य और भारतीय साधरणीकरण का सुन्दर समन्वय किया है"।

तितिक्षा और विराग की अविरल धारा में संतरण करते हुए भी स्कन्दगुप्त आर्य्य साम्राज्य के संगठन, रक्षा और उद्धार में जिस साहस, धैर्य्य, पराक्रम और उत्साह से प्रवृत्त होता है वह उसके व्यक्तित्व की महान विचित्रता है। सम्राट होकर भी साधारण सैनिक जीवन की स्पृहा, विपत्तियों के वात्याचक्र में फंसे रहने पर भी शरणार्थी की सहायता के लिए सद्यः प्रस्तुत होना, गुरुजनों एवं परिजनों के प्रति सदैव शील एवं विनययुक्त आचरण करना भारतीय सामान्य जीवन के अनुपम उदाहरण हैं। स्कन्दगुप्त अपने अनुपम शील सौजन्य, उदारता एवं कर्त्तव्य-निष्ठा आदि से भारतीयता का प्रतीक बन जाता है।

स्कन्दगुप्त के चरित्र में आरम्भ से ही विरागपूर्ण भावना का चित्रण है। अधिकार सुख को वह मादक और

सारहीन समझता है। कठोर कर्म व्यवसाय के बाद भी उसमें वैराग्य का उन्मेष होता है। मालव युद्ध में अपूर्व पराक्रम से शक और हूणों की सम्मिलित वाहिनी को प्रताडित करने के बाद वह चक्रपालित से कहता है—'चक्र ऐसा जीवन तो विडम्बना है, जिसके लिए दिन-रात लड़ना पड़े। साहसपूर्ण शौर्य सापेक्ष कार्य्यारम्भ में भी उसकी तितिक्षा मुखरित हो उठती है। देवसेना की प्रपंच बुद्धि के हाथों से, रक्षा करने के पूर्व वह कहता है—"इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए—केवल गुप्त सम्राट के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्य पूर्ण क्रिया कलाप में संलग्न रखा है।" वह जीवन के घोर संकटमयकाल में कामना करता है—"बौद्धों का निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सम्पूर्ण विस्मृति मुझे एक साथ चाहिए।' स्कन्दगुप्त के जीवन में उसकी वैराग्य प्रधान चिन्तना नाटक की एक समस्या है। यह प्रश्न होता है कि स्कन्दगुप्त जैसा वैरागी क्या नायक होने के उपयुक्त है? अथवा उसकी वैराग्य भावना क्या एक पाखंड है? अधिकार सुख के प्रति उदासीनता प्रकट करनेवाला, मालव का सिंहासन क्यों चुपचाप स्वीकार कर लेता है। संघर्ष पूर्ण जीवन को विडम्बना समझने वाला, स्कन्द क्यों गुप्त साम्राज्य के लिए घर और बाहर युद्ध करने के लिए कमर कसे तैयार रहता है। योगियों की समाधि चाहने वाला स्कन्द क्यों देवसेना से एकान्त जीवन बिताने की प्रार्थना करता है ,आदि आदि। स्कन्द-गुप्त के वैराग्य और कर्म व्यापार की यथार्थता समझने के लिए हमें 'प्रसाद' का आदर्श और स्कन्दगुप्त कालीन भारत की राजनीतिक परिस्थितियाँ समझना होगा।

'प्रसाद' के आदर्श में आकांक्षा और आसक्ति मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में बाधक है। इन्हीं के फेर में पड़कर मानव दानव हो सकता है। इनसे परे रहकर जीवन व्यापारों में संलग्न मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य—इस लोक का सुख और परलोक की गति—

प्राप्त करता है। प्राचीन भारतीय इतिहास हैं जनकराज विदेह आदि के जीवन चरित्र इसी प्रकार के थे। स्कन्दगुप्त का राजसी जीवन आकांक्षा और आसक्ति विहीन है। जिस अधिकार सुख के प्रति उदासीनता उसने आरम्भ में व्यक्त की उसी का चरमरूप हम नाटक के अन्त में पुरुगुप्त को साम्राज्यदान में देखते हैं। मालव का सिंहासन वह अधिकार सुख के लिए नहीं, वरन् सैनिक रूप में साम्राज्य सेवा के लिए स्वीकार करता है।

मालव में राज्याभिषेक के अवसर पर उसने गोविन्दगुप्त से यही बात कही—'इस समय में एक सैनिक बन सकूँगा सम्राट नहीं।' स्कन्दगुप्त के अन्तःकरण में आदर्शों एवं कार्य व्यापार के सतत संघर्ष-द्वन्द्व है। उसके कार्य आदर्शोन्मुख है। आदर्शों की छाप उसके प्रत्येक व्यापार पर है। यही उसके चरित्र का सौन्दर्य है। युद्धव्यापार प्रधानतः हिंसापूर्ण है। हिंसा प्रकृति सम्मत नहीं है। मानव हृदय स्वभावतः परस्पर प्रेम प्रसार द्वारा जीवन के समस्त व्यापार सम्पादित करने का अभिलाषी है। इसमें उसे चिर सुख और शान्ति मिलती है। अधिकार सुखों के प्रति उदासीनता के साथ हिंसक जीवन के प्रति (स्कंद के अन्तःकरण में) उपेक्षा के मूल में यही भाव है। वह प्रकृति के मनोरम, शीतल सुखद वातावरण के समान जीवन को शान्ति और शीतलता का नीड़ बनाना चाहता है। युद्ध व्यापार में उसकी प्रवृत्ति परिस्थिति जन्म है। जिस आदर्श की जिस उच्चभूमि तक स्कंद का हृदय पहुँच चुका है वह समाज की सामान्य स्थिति के पहुँच के बाहर है। अतः वह उस स्थिति के अनुरूप व्यवहार शान्ति और व्यवस्था के लिए करता है। नाटक में वर्णित स्कंदगुप्त कालीन राजनैतिक स्थिति इतिहास सम्मत है। साम्राज्य में अनंतदेवी और पुरगुप्त के कारण अन्तर्द्रोह की ज्वाला धधक रही थी। भारत के उत्तर पश्चिम भाग पर हूणों के विकट आक्रमण हो रहे

स्कन्द, मातृगुप्त को काश्मीर का शासक नियुक्त करता है। साध्वी रामा की अटल स्वामिभक्ति के कारण स्कन्द उसके पति शर्वनाग को जघन्य अपराधों के लिये क्षमा कर उसे अन्तर्वेद का विषयपति बना देता है। अन्त में जीवन के अनेक संघर्षों एवं विषम परिस्थितियों से प्राप्त साम्राज्य को पुरुगुप्त के लिए दान कर देना तो उसकी महान उदारता का उज्ज्वलतम उदाहरण है।

स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व में राष्ट्रप्रेम और स्वजाति—हित कामना तो कूट कूट कर भरी है। वह राष्ट्र की रक्षा, व्यवस्था और उसके उद्धार के लिए आजीवन नाना प्रकार के संकटों का साहसपूर्ण सामना करता है। कुभा की प्रखर धारा से निकल आने के पश्चात देश की दुर्दशा ही उसे सबसे अधिक व्यथित करती है। देश की दुरवस्था उसके हृदय को करुणाप्लावित कर देती है और वह मानो रो उठता है—"परन्तु यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था। आर्य्य-साम्राज्य का नाश इन्हीं आखों को देखना था। हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है! मेरा स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। यह नीति और सदाचारों का महान आश्रय-वृक्ष, गुप्त-साम्राज्य हरा भरा रहे, और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो"—स्कन्दगुप्त के पुरुषार्थ, सङ्गठन एवं व्यवस्था से, भीमवर्मा के कथनानुसार—"आर्य्य साम्राज्य का उद्धार हुआ है। ××× सिंधु के प्रदेश से म्लेच्छराज ध्वंस होगया है। ××× गौ, ब्राह्मण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आँख उठाकर नहीं देखता है। लौहित्य से सिंधु तक, हिमालय की कन्दराओं में भी स्वच्छन्दतापूर्वक सामगान होने लगा। ×××

'प्रसाद' जी ने स्कन्दगुप्त के चरित्र में अनासक्तिमय कर्मयोग के अतिरिक्त उसके जीवन का मधुरपक्ष भी अङ्कित किया है। स्कन्दगुप्त अपने प्रणय भाव में भी अपनी प्रकृति के अनुसार गम्भीर एवं संयत है। प्रेम का उदय सामान्य मानव जीवन में रूप एवं गुणों के प्रति आकर्षित होने से होता है। प्रारम्भिक वय में रूप का विशेष प्रभाव पड़ता है। स्कन्दगुप्त अपनी प्रारम्भिक वय में मालव में विजया को देखकर उसके रूप से प्रभावित होता है। अपनी सहज गम्भीरतावश वह उसके विषय में केवल इतना ही पूछता है कि—यह कौन? विजया सदृश साधारण रमणी के लिए

स्कंद के हृदय की गंभीरता का अवगाहन कर उसके अन्तर में अपने प्रति अंकुरित प्रणय भाव को पहिचानना तो बहुत दूर की बात है देवसेना तक इस बात को आगे की घटनाओं से ही जान पाती है।

स्कंद के प्रणय में समुद्र की सी विशालता और गंभीरता है। विजया उसके सामने भटार्क को अपना पति वरण करती है। स्कन्द का प्रणय-सिंधु क्षुब्ध हो उठता है और सहसा यह ध्वनि उसके मुख से निकल ही पड़ती है—"परन्तु विजया, तुमने यह क्या किया।"

देवसेना इस उक्ति का मर्म अवगत कर ही कहती है "(स्वगत) आह! जिसकी मुझे आशंका थी, वही है। विजया! आज तू हार कर भी जीत गई।" विजया स्कन्द के कोमल मर्म पर यह प्रथम आघात करती है। आगे चल कर वह देवसेना की हत्या के प्रयत्न में वह कार्य्य करती है जिससे प्रभावित हो स्कन्द को बरबस यह कहना पड़ा—"विजया जिसे हमने सुख शर्वरी की सन्ध्यातारा के समान पहले देखा, वही उल्कापिंड होकर दिगन्तदाह करना चाहती है।" स्कन्द सदृश, विचारशील व्यक्तियों के लिए केवल रूप ही स्थायी प्रणय का आधार नहीं होता। उसके लिए अनुकूल गुण भी आपेक्षित हैं। स्कन्दगुप्त विजया की प्रकृति का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके ही उसे अपने प्रणय के अयोग्य ठहराता है।

स्कन्दगुप्त के सम्पर्क में आने वाली दूसरी कुमारी देवसेना है। विजया के प्रति पहिले ही सहसा प्रणय भाव जागृत हो जाने के कारण चारित्रिक मर्य्यादा की दृष्टि से देवसेना की ओर वह प्रेम-भाव से नहीं देखता है। वह विजया का ही स्वप्न देखता रहता है। किन्तु उस स्वप्न के भंग होते ही उसे अपने प्रणय क्षितिज में एक नवीन ज्योति पुंज का प्रत्यक्ष आभास प्राप्त होता है। स्मशान में देवसेना मृत्यु के मुख में पड़ी हुई केवल उसका ही ध्यान

कर रही है—"प्रियतम ! मेरे देवता युवराज !! तुम्हारी जय हो।" स्कन्दगुप्त वहीं छिपा हुआ यह देख रहा है। उत्तरापथ में सुशासन की व्यवस्था में व्यस्त होने के कारण तथा तत्पश्चात् ही हूणों से पुनः संग्रामरत होने के कारण स्कन्दगुप्त को एक लम्बे अर्से तक देव-सेना से मिलने का अवसर नहीं मिलता। वह उससे श्मशान वाली घटना के बाद कुभा की क्षुब्ध लहरों से निकल आने पर ही मिलता है। स्कन्दगुप्त देवसेना से इस पुनर्मिलन के अवसर पर एकांत में, किसी कानन के कोने में उसे देखता हुआ जीवन व्यतीत करने की अपनी कामना प्रकट करता है और अपना सम्पूर्ण ममत्व उसे सौंप देना चाहता है। देवसेना के प्रति उसका आकर्षण उसके अलौकिक गुणों के कारण है। कालगत अनुभव से स्कन्द यह पहिचान लेता है कि देवसेना—'इस नंदन की वसंत श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी' है।

'प्रसाद' जी ने स्कंदगुप्त के चरित्र में अनासक्तिमय कर्मयोग के अतिरिक्त पूर्व कथित जो मधुर-पक्ष चित्रित किया है वह भी उसके जीवनादर्शों के अनुरूप ही है। प्रेमालंबन रूप में विजया सदृश रमणी उसके लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। देवसेना के प्रति उसका प्रेम गंभीर और वास्तविक है। स्कंदगुप्त ने देवसेना से विवाहरूप में बंधुवर्म्मा की इच्छापूर्ति तथा उनसे उऋण होने की जो बात कही उसमें स्कन्द की लोकदृष्टि और कृतज्ञता का सात्विक भाव सुनिहित है। इससे उसका प्रणय फीका नहीं पड़ता है।

स्कन्दगुप्त जैसा शक्तिशाली और स्वरूपवान है वैसा ही वह शीलवान भी है। चक्रपालित, स्कन्दगुप्त की गम्भीरता को यथार्थ रूप से नहीं पहिचानता। वह स्कन्दगुप्त को उद्दीप्त करने के लिए नय मर्य्यादा विरुद्ध उत्तेजना पूर्ण बातें कहता है तो पर्णदत्त उसे डाँटने लगता है। स्कन्दगुप्त चट से चक्रपालित की ओर से सफाई देता हुआ पर्णदत्त से क्षमा मांगता है—

"आर्य्य पर्णदत्त ! क्षमा कीजिए। हृदय की बात को राज-नैतिक भाषा में व्यक्त करना चक्र नहीं जानता।" मित्र के दोषों की परिहार-चेष्टा उच्च शील का परिचायक है। स्कन्दगुप्त अपनी माता का अनन्य भक्त तो है ही, वह अपनी विमाता अनन्तदेवी को जघन्य अपराध करने पर भी छोड़ ही नहीं देता वरन् उसे स्वेच्छानुसार कार्य्य करने का अवसर भी देता है—'अनन्तदेवी ! कुसुमपुर में पुरगुप्त को लेकर चुपचाप बैठी रहो। जाओ—मैं स्त्री पर हाथ नहीं उठाता।" अपने पितृव्य गोविन्दगुप्त के दीर्घकाल पश्चात् पुनर्मिलन से जो आदरपूर्ण अनुराग का स्फुरण स्कन्द के हृदय में उनके प्रति होता है वह उसके शील का मनोहर उदाहरण है। स्कन्दगुप्त राजसभा में गोविन्दगुप्त के प्रवेश करते ही खड़ा होकर कहता है—"तात ! कहाँ थे ? इस बालक पर अकारण क्रोध करके कहाँ छिपे थे ?" स्कन्द की इस उक्ति के प्रत्येक शब्द से उसकी करुणोत्पादक विनम्रता व्यंजित होती है।

उदारता शील के अन्तर्गत ही है। स्कन्दगुप्त के चरित्र में उसकी उदारता के अनेक उदाहरण हैं। देवसेना को प्रपंचबुद्धि के हाथों से बचाने में सहायता देने के कारण वह मातृगुप्त को काश्मीर का शासक नियुक्त करता है। साध्वी रामा की अटल स्वामि-भक्ति के कारण स्कन्द उसके पति शर्वनाग को जघन्य अपराधों के लिए क्षमा कर उसे अन्तर्वेद का विषयपति बना देता है। अन्त में जीवन के अनेक संघर्षों एवं विषम परिस्थितियों से प्राप्त साम्राज्य को पुरगुप्त के लिए दान कर देना तो उसकी महान् उदारता का उज्ज्वलतम प्रमाण है।

स्कन्दगुप्त के व्यक्तित्व में राष्ट्रप्रेम और स्वजाति कामना तो कूट कूट कर भरी है। वह राष्ट्र की रक्षा, व्यवस्था और उसके उद्धार के लिए आजीवन नाना प्रकार के संकटों का साहसपूर्ण

सामना करता है। कुभा की प्रखर धारा से निकल आने के पश्चात् देश की दुर्दशा ही उसे सबसे अधिक व्यथित करती है। देश की दुरवस्था उसके हृदय को करुणाप्लावित कर देती है और वह निम्नाङ्कित शब्द कहता हुआ रो उठता है—"परन्तु यह ठीकरा इसी सिर पर फूटने को था? आर्य्य साम्राज्य का नाश इन्हीं आँखों को देखना था? हृदय काँप उठता है, देशाभिमान गरजने लगता है। स्वत्व न हो, मुझे अधिकार की आवश्यकता नहीं। यह नीति और सदाचारों का महान् आश्रय-वृक्ष-गुप्त-साम्राज्य हरा भरा रहे और कोई भी इसका उपयुक्त रक्षक हो।"

स्कन्दगुप्त के पुरुषार्थ, संगठन एवं व्यवस्था से, भीमवर्म्मा के कथनानुसार—"आर्य्य साम्राज्य का उद्धार हुआ। .... सिंधु के प्रदेश से म्लेच्छराज्य ध्वंस हो गया। ....गौ, ब्राम्हण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आँख उठाकर नहीं देखता। लौहित्य से सिंधु तक, हिमालय की कंदराओं में भी स्वच्छन्दता पूर्वक सामगान होने लगा। ...."

स्कन्दगुप्त के महान चरित्र की विशेषताएँ हम नाटक के अन्य प्रमुख पात्रों से भी सुनते हैं। महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त उसे 'आर्य चन्द्रगुप्त की अनुपम प्रतिकृति गुप्त-कुल-तिलक' कहकर सम्बोधित करते हैं और स्कन्द के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर आर्शीवाद देते हैं—'यह रत्न, यह गुप्त-कुल के अभिमान का चिन्ह, सदैव यशोमंडित रहेगा।' मालव-नरेश बन्धुवर्म्मा स्कन्दगुप्त के पराक्रम, राष्ट्रहित-कामना और त्यागमय जीवन से प्रभावित है। वह उसके प्रति अपने अन्तःकरण के भाव अपनी एक स्वगतोक्ति में इस प्रकार व्यक्त करता है—"उदार-वीर हृदय, देवोपम सौन्दर्य, इस आर्यावर्त का एक मात्र आशास्थल, इस युवराज का विशाल मस्तक कैसी वक्र लिपियों से अंकित है। अन्तःकरण में तीव्र अभिमान के

साथ विराग है। आँखों में एक जीवनपूर्ण ज्योति है।" बन्धुवर्म्मा स्कन्दगुप्त के चरित्र की इन महानताओं को ही लक्षित कर अपना राज्य और जीवन उसके चरणों पर न्यौछावर कर देता है। वह यह भलीभाँति अनुभव कर लेता है कि "आर्य्यावर्त्त का जीवन केवल स्कन्दगुप्त के कल्याण से है।" अतः उसका स्कन्द के लिए राज्य एवं जीवन का उत्सर्ग स्वाभाविक एवं यथार्थ है।

देश में हूणों का आतंक फैलने पर विभिन्न लोग स्कन्दगुप्त के नाम पर आँसू बहाते हैं। मातृगुप्त 'प्रवीर उदार-हृदय स्कन्दगुप्त कहाँ हैं,' कह कर चारों ओर विलख रहा है। रामा शोकाकुल अर्ध-विक्षिप्तावस्था में स्कन्दगुप्त के संबंध में कारुणिक प्रलाप कर रही है—"वही स्कन्द, रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय और आर्य्यावर्त्त की छत्रछाया।" स्कन्दगुप्त के विरोधी भी उसके अभाव में उसके लिए ग्लानियुक्त पश्चात्ताप करते हैं। भटार्क कहता है—"ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और परोपकारी सम्राट्। परन्तु गया—मेरी ही भूल से सब गया।" सिंहल-राजकुमार धातुसेन के शब्दों में 'आशा का केन्द्र ध्रुवतारा एक युवराज स्कन्द है।'

भटार्क

मगध का नवीन महाबलाधिकृत भटार्क स्वाभिमानी, महत्वाकाँक्षी, दृढ़प्रतिज्ञ और साहसी है। उसमें विवेक, शालीनता और गुणों को बहुधा पहिचानने की शक्ति भी आंशिक रूप में है। फिर भी वह अपने कुत्सित कर्मों की अवतारणा से उस साम्राज्य का एक लम्बे समय तक शत्रु ही सिद्ध होता है जो उसके बाहुबल पर विश्वास कर उसे महाबलाधिकृत पद से सम्मानित करता है। भटार्क के चरित्र में सत् और असत् दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठा है। दोनों में यथावसर द्वन्द्व भी होता है किन्तु जीवन के पूर्व भाग में वह असद् वृत्तियों के प्रवाह में ही बहता है। जीवन के आरम्भ में कुसंग का प्रभाव उसकी असद्वृत्तियों को प्रोत्साहन देता है। अन्त में घटनाओं के घातप्रतिघात और सत्संग के प्रभाव से ही उसमें सद्वृत्तियों का स्फुरण होता है और वह सन्मार्ग ग्रहण करता है। भटार्क के चरित्र में यथास्थान द्वन्द्व का चित्रण होने के कारण वह रोचक एवं उपयोगी है।

भटार्क में महत्वाकांक्षा मानों जन्मजात है। वह नाटक में प्रवेश करते ही उन्नत पद के लिए आकुल दिखाई पड़ता है। वह चंचल शकराष्ट्र-मंडल के लिए सुयोग्य सेनापति भेजने की सम्मति देने के व्याज से अपने ही लिए सिफ़ारिश करता है। उसकी अनावश्यक उत्सुकता को लक्षित कर ही पृथ्वीसेन उसको टाल देता है। भटार्क में स्वाभिमान की मात्रा भी बहुत अधिक है। वह पृथ्वीसेन के विरोध को अपना अपमान मानकर उसका प्रतिकार करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। अनंतदेवी से वह कहता है—'महादेवी! कल सम्राट् के समक्ष जो विद्रूप और व्यंगबाण मुझ पर बरसाए गए हैं, वे अन्तस्तल में गड़े हुए हैं। उनके निकालने का प्रयत्न नहीं करूँगा, वे ही भावी विप्लव में सहायक होंगे।' भटार्क

अनन्तदेवी से प्रभावित है। अनन्तदेवी की कृपा से ही उसे महाबलाधिकृत का पद मिलता है। अतः भावनाओं के आवेश में पूर्वापर परिस्थितियों का विचार गंभीरतापूर्वक बिना किये ही वह अपने जीवन का महत्वपूर्ण निश्चय कर डालता है। भटार्क अनन्त-देवी के वाग्जाल में फँसकर पुरगुप्त को मगध के सिंहासन पर बैठाने के लिए प्रतिश्रुत होता है। उसके जीवन की यह सबसे बड़ी भूल है।

कुसंग में एक बार पड़ जाने से मनुष्य को शीघ्र छुटकारा नहीं मिलता। विपरीत मार्ग ग्रहण कर लेने के कारण उसके सद्गुण भी लोक पीड़ा को बढ़ाने वाले हो जाते हैं। स्थिरमति, दृढ़प्रतिज्ञ, साहसी भटार्क एक बार अपने प्रचंड पराक्रम और कूट कौशल द्वारा साम्राज्य के अन्दर अन्तर्द्रोह की ज्वाला फैलाकर समस्त देश को कम्पायमान कर देता है। कुमारगुप्त की कौशलपूर्ण मृत्यु, देवकी की हत्या का षड्यन्त्र, मालव में स्कन्द के विरुद्ध षडयन्त्र की योजना, प्रपंचबुद्धि द्वारा देवसेना की हत्या का प्रयास, इन सभी रोमांचकारी घटनाओं में भटार्क का हाथ है। नगरहार के युद्ध में तो भटार्क की पिशाच लीला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। वह हूणों को सुरक्षा का मार्ग बताकर कुभा का बाँध ठीक मौके पर तोड़ता है और स्कन्द अपनी सेना सहित उसमें बह जाता है। भटार्क में प्रतिभा और शक्ति है। यह दुर्भाग्य की बात है कि वह उसका दुरुपयोग करता है।

भटार्क प्रकृति सिद्ध नीच नहीं है। महादेवी देवकी की हत्या के प्रयास में उसकी निर्मम कठोरता को छोड़कर हम प्रत्येक निरपराध हत्या अथवा मृत्यु के अवसर उसकी अन्तःस्थित मानवता का दर्शन करते हैं। महाप्रतीहार, महादंडनायक और महामन्त्री द्वारा आत्म-हत्या करने के पश्चात् हम भटार्क को वास्तविक खेद करते हुये पाते हैं—'परन्तु भूल हुई। ऐसे स्वामिभक्त सेवक।' देवकी की हत्या

के प्रयत्न में, तथा मालव में स्कन्द के राज्यारोहण के समय षड्यन्त्र रचने के प्रसंगों में बन्दी बनाकर स्कन्द द्वारा छोड़ दिए जाने के कारण भटार्क का हृदय स्कन्द के प्रति उपकारों के बोझ से दब जाता है। वह प्रपंचबुद्धि के समक्ष खुले हृदय से स्वीकार करता है 'मेरी वीरता पर दुर्वह उपकार का बोझ लाद दिया।' कृतज्ञता, सात्विक हृदय की सहज अनुभूति है। उसके यथार्थ रूपसे उदय हो जाने पर मनुष्य कुमार्ग की ओर सहसा पैर नहीं रखना चाहता। भटार्क भी प्रपंचबुद्धि द्वारा देवसेना की बलि प्रस्तावना सुनकर आकुल हो उठता है—"... मैं कृतघ्नता से कलंकित होऊँगा और स्कन्दगुप्त से मैं किस मुँह से ...... नहीं, नहीं ......।" यहाँ पर उसके हृदय का अन्तर्द्वन्द्व बहुत स्वाभाविक है। अनन्तदेवी और पुरगुप्त से प्रतिश्रुति होने के कारण यथार्थ ही भटार्क की स्थिति 'पापपंक में लिप्त मनुष्य' की भाँति है जिसे कभी 'छुट्टी नहीं।' अतः 'कुकर्म उसे जकड़ कर अपने नागपाश में बाँध लेता है।' भटार्क नगरहार के युद्ध में स्कन्द के साथ विश्वासघात पाप-पंक में लिप्त होने के कारण ही करता है। परन्तु उसके बाद ही पश्चाताप और अनुशोचन की वह मिर्च उसकी आखों में लगती हैं कि वे सदा के लिए खुल जाती हैं। कमला की भर्त्सनाएँ उसके विवेक को सजग कर पुष्ट कर देती हैं और वह उसके बाद स्कन्द के समक्ष सच्चे हृदय से आत्मसमर्पण कर सदा के लिए साम्राज्य का शुभाकांक्षी हो जाता है।

भटार्क एक सैनिक है। बाहुबल से, वीरता से और अनेक प्रचंड पराक्रमों से ही उसे मगध के महाबलाधिकृत का माननीय पद मिलता है। उसका लोहा भारत के क्षत्रिय मानते हैं। वह सैनिक की भांति अनुशासन प्रिय भी है। एक बार शर्वनाग को अपने विश्वास में लेकर उसे भविष्य में विश्वासघात न करने के लिए सचेत करता है। भटार्क में सैनिक की भाँति कर्त्तव्य की दृढ़ता भी है। वह एक बार जो निश्चय करता है, चाहे वह गलत हो या

ठीक उस पर अन्त तक आरूढ़ रहता है। स्कन्दगुप्त के स्थान पर पुरुगुप्त को मूर्धाभिषिक्त करने की धुन में वह क्या नहीं कर डालता। फिर भी उसकी वीरता दोषमुक्त नहीं है। वह न्याय और अन्याय का बिना विचार किए केवल शस्त्रबल पर उसे आश्रित करना चाहता है। इसके अतिरिक्त वह विलासिता को वीरता का भूषण मानता है। वह सैनिक से कहता है—"जो विलासी न होगा वह भी क्या वीर हो सकता है ? ....वीर एक कान से तलवारों की और दूसरे से नूपुरों की झनकार सुनते हैं।" सम्भवतः इन्हीं भ्रान्तियों के कारण स्कन्दगुप्त और गोविन्दगुप्त के साथ उसे द्वन्द्वयुद्ध में पराजित होना पड़ता है।

भटार्क सैनिक तो अवश्य है पर राजनीति से सर्वथा अनभिज्ञ है। यह उसकी महान् भूल है कि राजनैतिक ज्ञान के अभाव में भी वह राजाओं का नियामक बन बैठता है। महामंत्री पृथ्वीसेन आरम्भ में ही भटार्क को चेतावनी देता है—"परन्तु भटार्क! जिसे तुम खेल समझकर हाथ में ले रहे हो, उस काल भुजंगी राष्ट्रनीति की प्राण देकर भी रक्षा करना।" भटार्क पहिले तो महामंत्री के इस कथन को अवज्ञा के कानों से सुनता है। किन्तु नगरहार के युद्ध में आर्य्य साम्राज्य का सर्वस्वांत करने के पश्चात विवेक के जागृत होने पर महामंत्री के उपर्युक्त शब्द उसे स्मरण आते हैं। वह अनुभव करता है कि स्कन्दगुप्त ऐसा वीर, ऐसा उपयुक्त और ऐसा परोपकारी सम्राट्, उसकी भूल ही से गया।

भटार्क में यद्यपि कुसंगवश अनेक दुर्गुण आगए हैं किन्तु उसका चरित्र कलुषित नहीं होता है। अनन्तदेवी कामपिपासा युक्त संकेतों से उसे अपनी ओर आकृष्ट करने की भरपूर चेष्टा करती है, किन्तु वह वास्तव में अपना चरित्र नहीं खोता है। नाटक के तृतीय अंक के तृतीय दृश्य में यद्यपि वह अनन्तदेवी के साथ

मद्य पान कर उसके संकेत पर जाता हुआ दिखाई पड़ता है और विजया इसी बात पर संदेह कर अनन्तदेवी से प्रणय-वंचना के लिए झगड़ बैठती है, किन्तु उसका वह संदेह निराधार है। भटार्क विजया को पत्नीरूप में स्वीकार करता है और इस बात का दम वह अन्त तक भरता रहता है। स्कन्दगुप्त के समक्ष वह पति होने के नाते ही विजया की भर्त्सना करता है—

विजया—कौन भटार्क !

भटार्क—हाँ, तेरा पति भटार्क। दुश्चरित्रे ! सुना था कि तुझे देश सेवा करके पवित्र होने का अवसर मिला है, परन्तु 'हिंस्र पशु कभी एकादशी का व्रत करेगा—कभी पिशाची शान्ति पाठ पढ़ेगी।"

भटार्क यदि वास्तव में दुश्चरित्र होता तो वह न तो पति होने का अपना दावा करता और न उसे विजया को दुश्चरित्रता के कारण बुरा-भला ही कह सकता।

भटार्क में शील और विनय का सर्वथा अभाव नहीं है। वह अपनी माता कमला की भर्त्सनाओं को नतमस्तक होकर सुनता है। और उन्हें हृदयंगम भी करता है। उज्जयिनी में वह अपनी माता से प्रभावित हो राजनैतिक प्रपंचों से हटकर घर चलने के लिए तैयार हो जाता है। दुर्भाग्यवश गोविन्दगुप्त के सहसा वहाँ पर आकर उसे बन्दी कर लेने के कारण उसका जीवन प्रवाह पूर्ववत बना रहता है। नगरहार युद्ध के पश्चात भटार्क अपनी माता के निन्दात्मक कठोर वचनों को सुनकर तो सदा के लिए अस्त्र ही त्याग देता है। वह अपनी माता की आशाओं को विफल नहीं करना चाहता है। वह संसार के समस्त लांछनों का अपनी माता के कारण ही तिरस्कार करता है। भटार्क की सद्भावना और अटल मातृभक्ति ही उसे जीवन के सन्मार्ग पर लाकर खड़ा कर देती है। इनके अभाव में वह संभवतः नर न होकर नरपिशाच हो जाता।

पर्णदत्त

गुप्त साम्राज्य का महाबलाधिकृत पर्णदत्त स्वामिभक्ति, शूरता, साहस, धैर्य्य और कर्त्तव्य परायणता का श्रेष्ठतम उदाहरण है। वह साम्राज्य की मान-मर्य्यादा की रक्षा के लिए सदैव प्रयत्नशील है और उस ओर दूसरों को उदासीन देखकर वह क्षुब्ध हो उठता है। नाटक के आरम्भ में ही 'अयोध्या में नित्य नये परिवर्तन' और युवराज स्कन्दगुप्त की 'अपने अधिकारों के प्रति उदासीनता' देखकर वह भविष्य के लिए आकुल और चिन्तित प्रतीत होता है। देश के लिए सच्चे मंगल की भावना से प्रेरित होकर वह स्पष्टवादिता का आश्रय लेता है। स्कन्दगुप्त के समक्ष अपने यथार्थ मनोभावों को वह व्यक्त करता है—"युवराज इसीलिए मैंने कहा था कि आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं जिसकी मुझे बड़ी चिन्ता है। गुप्त साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं।" स्कन्दगुप्त को प्रभावित और सचेष्ट करने के लिए पर्णदत्त व्यंग्य का भी प्रयोग करता है—"गुप्तकुल के शासक इस साम्राज्य को 'गले पड़ी' वस्तु समझने लगे हैं।' किन्तु इन व्यंग्यों के मूल में उपहास अथवा कोरी कदर्थना नहीं है वरन् इसमें सच्ची देशभक्ति अन्तर्निहित है। पर्णदत्त स्कन्दगुप्त को प्रोत्साहित कर साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह की सृष्टि नहीं करना चाहता। वह तो साम्राज्य का सेवक है। इस नाते यदि कोई दूसरा असावधानी से इस तरह की बात कहता है जिसमें विद्रोह की भावना हो तो वह उबल पड़ता है। चक्रपालित ज्यों ही स्कन्दगुप्त और पर्णदत्त के समक्ष 'गुप्तकुल के अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम' की बात उठाता है, वैसे ही पर्णदत्त उसे डांट कर कहता है—"चक्र! यदि यह बात हो भी, तो भी तुमको ध्यान रखना चाहिए कि हम लोग साम्राज्य के सेवक

हैं। असावधान बालक! अपनी चञ्चलता को विष-वृक्ष का बीज न बना देना।" पर्णदत्त के हृदय की सात्विकता, स्वामि-भक्ति एवं स्वदेशप्रेम इसी से व्यक्त होते हैं कि ज्योंही स्कन्द क्षात्रधर्म के अनुसार शरणागत-रक्षा-हित मालव के दूत को सहायता का आश्वासन देता है त्योंही स्कन्द के लिए पर्णदत्त के मुँह से आशीर्वचन और साम्राज्य के लिए मंगलमयी कामना फूट पड़ती है।—'युवराज! आज यह वृद्ध हृदय से प्रसन्न हुआ और गुप्त-साम्राज्य की लक्ष्मी भी प्रसन्न होगी।' पुनश्च—'कुछ चिंता नहीं युवराज! भगवान् सब मंगल करेंगे......।'

नाटक में पर्णदत्त का सक्रिय युद्ध-व्यापार विशेष रूप से चित्रित नहीं है। द्वितीय अङ्क में चक्रपालित द्वारा यह सूचना मिलती है—'वह सौराष्ट्र की चञ्चल राष्ट्रनीति की देख रेख में लगे हैं" जो उसके महत्व का यथेष्ट परिचायक है। फिर भी उनके प्रचण्ड पराक्रम और अद्वितीय रण-कौशल का ज्ञान स्कन्द की उक्तियों द्वारा नाटक के आरम्भ में ही प्राप्त हो जाता है। स्कन्द के शब्दों में पर्णदत्त की 'वीरता की लेखमाला शिप्रा और सिन्धु की लोल लहरियों से लिखी जाती है, शत्रु भी उस वीरता की सराहना करते हुए सुने जाते हैं।" इस उक्ति में चाटुकारिता नहीं है, वरन् गुणों की यथार्थ अनुभूति और अवसरानुकूल उनकी अभिव्यक्ति है। इसी प्रकार पर्णदत्त के एक कथन में भी उसके रणोत्साह के दर्शन होते हैं—"इस वृद्ध ने गरुड़ध्वज लेकर आर्य्य-चन्द्रगुप्त की सेना का सञ्चालन किया है। अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीर-सेना में—उसी गरुड़ध्वज की छाया में—पवित्र क्षात्रधर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटूँ—यही कामना है।"

सङ्कट ही धैर्य्य और साहस की परीक्षा की कसौटी है। पर्णदत्त उसमें खरा उतरता है। वैभव और ऐश्वर्य के पश्चात् अकिंचन जीवन बड़े बड़े साहसियों एवं स्थिर मति वालों को भी विचलित कर देता

है। ऐसी परिस्थिति में ही पुरुषार्थ एवं धैर्य्य द्वारा अपने सत्व को स्थिर रखने में जीवन की महानता है। इस दृष्टि से पर्णदत्त का चरित्र अत्यन्त गौरवपूर्ण है।

नगरहार के युद्ध में स्कन्द के विलुप्त होने के पश्चात् साम्राज्य अत्यन्त अस्तव्यस्त दशा को प्राप्त हो गया। 'आर्य्य पर्णदत्त ने साम्राज्य के बिखरे हुए रत्न एकत्रित किए..., ये सब निरवलम्ब हैं।' पर्णदत्त उन निराश्रितों के सङ्गठन एवं उनकी सेवा का कार्य्य अपनाता है। उसके समक्ष अपार कठिनाइयाँ हैं। अन्न और वस्त्र की समस्या तो प्रधान है। अतः उसे 'सूखी रोटियाँ बचाकर रखनी पड़ती हैं। 'जिन्हें कुत्तों को देते हुए संकोच होता था, उन्हीं कुत्सित अन्नों का संचय' उसे करना पड़ता है। अपनी इस अकिञ्चन दशा पर उसका हृदय विलख उठता है। किन्तु साहस और धैर्य्य का अवलम्ब लेकर 'बहुत से दुर्दशाग्रस्त वीर हृदयों की सेवा के लिए' वह मानसिक उथल-पुथल का समाधान करता है और उद्देश्य प्राप्ति के लिए प्रत्येक परिस्थिति का सामना करने को कटिवद्ध होता है। वह नितान्त आशावादी है। उसे आशा है—'तुम जीते रहो, तुम्हारा उद्देश्य सफल होगा।' अतः जिस काम को उसने कभी नहीं किया उसे भी करने को वह उद्यत हो जाता है। पर्णदत्त 'जिसके लोहे से आग बरसती थी, वह जङ्गल की लकड़ियाँ बटोर कर आग सुलगाता है।' वह सड़कों पर 'भीख दो बाबा! देश के बच्चे भूखे हैं, असहाय हैं; कुछ दो बाबा" कहता हुआ भीख माँगता है। पर्णदत्त परिस्थिति-वश परमार्थहित के लिए इस नितान्त गर्हित भिक्षावृत्ति का आश्रय लेता है। पर इस दशा में भी वह आत्मसम्मान नहीं त्यागता। भिक्षा माँगने के लिए गीत गाती हुई देवसेना के प्रति अशिष्ट पुरुषों के कुत्सित शब्दों के सुनते ही उसका खून खौल उठता है। वह दाँत पीसकर ललकार उठता है—'नारकीय दुरात्मा, विलास का नारकीय कीड़ा। बालों को सँवार कर, अच्छे कपड़े पहन कर,

अब भी घमंड से तना हुआ निकलता है ? × × × × × देश पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराली धज ?"

देश वासियों की विलासिता और स्वार्थान्धता देखकर उसका हृदय सहसा विद्रोही हो उठता है। वह देवसेना से कहता है—"अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। …………विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है और दरिद्रों के लिए नहीं।" निश्चय ही उसके ऊपर सैकड़ों अनाथ भूख से तड़पते वीर बालकों का भार है। उसके हृदय में समाज की विलास-प्रियता देखकर इस प्रकार के साम्यवादी एवं विद्रोही विचारों का उदय होना स्वाभाविक है। पर्णदत्त की अवसर जन्य परमुखापेक्षिता आदर्श सम्मत है। उसकी तत्परता और त्याग भावना से प्रभावित होकर जब लोग उसकी जयजयकार करते हैं तो वह, अपनी धुन का धनी, उसकी भी उपेक्षा करता है और देश के लिये त्याग और बलिदान की रट लगाता है—'मुझे जय नहीं चाहिए—भीख चाहिए। जो दे सकता हो अपने प्राण, जो जन्मभूमि के लिए उत्सर्ग कर सकता हो जीवन, वैसे वीर चाहिए; कोई देगा भीख में।' उसकी पुकार खाली नहीं जाती। स्कन्दगुप्त स्वयं प्रकट होकर अपने को समर्पित करता है। वीर हृदय की सची कामना कभी निष्फल नहीं होती। पर्णदत्त का चरित्र इसकी पुष्टि करता है। उसने नाटक के आरंभ में स्कंद के समक्ष सच्चे हृदय से कहा था—अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीर सेना में उसी गरुड़ध्वज की छाया में पवित्र क्षात्रधर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटूँ—यही कामना है।" पर्णदत्त की यह कामना यथार्थरूप में प्रतिफलित होती है। हूणों से अन्तिम युद्ध में वह वीरता पूर्वक लड़ता है। सम्राट् को बचाने में वृद्ध पर्णदत्त की मृत्यु होती है; गरुड़ध्वज की छाया में वह लिटाया जाता है। पर्णदत्त का चरित्र, निस्सन्देह, अनुपम त्याग, कर्त्तव्य-निष्ठा, स्वदेशानुराग आदि आदर्श गुणों का सन्निधान है।

शर्वनाग

शर्वनाग सहजशूर, दृढ़ संकल्पवान्, सरल और पुरुषार्थी है। उसकी जीवनधारा परस्पर दो विरोधी मार्गों में प्रवाहित होती है। पहिले वह भटार्क, प्रपंचबुद्धि एवं अनंतदेवी आदि के षड़यन्त्र में सम्मिलित हो स्वार्थवश साम्राज्यविरोधी कार्य्य करता है। बाद में परिस्थितियों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होने पर वह आत्मसुधार कर साम्राज्य का सच्चा हितैषी बन जाता है।

भटार्क आदि के षड़यन्त्र में सम्मिलित होने के पूर्व उसका अन्तःकरण शुद्ध और सात्विक है। उसे अपने पुरुषार्थ पर पूर्ण विश्वास है। वह किसी से भयभीत नही होता। प्रपंचबुद्धि के चौंकने पर वह कहता है—"परन्तु आप चौंकते क्यों हैं। मैं तो कभी यह चिंता नहीं करता कि कौन आया या कौन आएगा। …………मैं खड्ग हाथ में लिए प्रत्येक भविष्यत् की प्रतीक्षा करता हूँ। जो कुछ होगा, वही निबटा लेगा।" उसके इस कथन में उसकी विशुद्ध वीरता व्यंजित होती है।

शर्वनाग के अंतःकरण की शुद्धता का परिचय हमें महादेवी देवकी की हत्या वाले प्रस्ताव के उत्तर में मिलता है। भटार्क जब उक्त प्रस्ताव उसके समक्ष रखता है, तब वह अत्यन्त दृढ़ता और निर्भीकता से उसका विरोध करते हुए उत्तर देता है—"कायरता! अबला महादेवी की हत्या। किसी प्रलोभन में तुम पिशाच बन रहे हो …………नहीं भटार्क! लाभ ही के लिए मनुष्य सब काम करता तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्य्याप्त था। मुझ से यह काम नहीं होने का।"

शर्वनाग का अन्तःकरण साहसपूर्ण एवं विशुद्ध है किन्तु फिर भी वह कुचक्रियों के फेर में पड़ता है। इसके मूल में उसकी अर्थहीनता

तथा कुसंग का प्रभाव है। उसकी स्त्री के 'अभावों का कोष कभी खाली नहीं' तथा उसकी 'भर्त्सनाओं का भंडार अक्षय है।' उसकी स्त्री रामा उसे नित्य ही कहती आती है कि 'तू निकम्मा है, अपदार्थ है, कुछ नहीं है। शर्वनाग को एक सद्गृहस्थ की भाँति अपनी परिणीता भार्य्या के प्रति अदम्भावहीन प्रीति है। वह 'क्रोध से गरजते हुए सिंह की पूँछ उखाड़ सकता है' परन्तु 'सिंह-वाहिनी' (अपनी स्त्री) को देखकर उसके "देवता कूच कर जाते हैं।" वह अपनी भार्य्या रामा से कहता है—'घबराओ मत समझाकर कहो।' अस्तु वह अपनी नारी की प्रेरणा से अपने को कुछ साबित करने के लिए ही कंचन प्राप्ति की चेष्टा करता है और उसके लिए कुकर्म में प्रवृत्त होता है। कुसंग का प्रभाव भी उसके सरल हृदय पर शीघ्र पड़ता है और मदिरा पान करने पर तो वह सर्वथा विवेक शून्य हो जाता है। इन्हीं परिस्थितियों में शर्वनाग महादेवी की हत्या के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

शर्वनाग के चरित्र में परिवतन, घटनाओं के घातप्रतिघात से तथा उच्च और महान् व्यक्तित्व के सम्पर्क में आने से होता है। महादेवी की हत्या के प्रयास में वह स्कन्द गुप्त के प्रबल पुरुषार्थ के कारण विफल होता है। स्कन्द गुप्त उसके जघन्य कर्म के प्रतिकार स्वरूप प्राणदण्ड की आज्ञा न देकर उसे क्षमा दान देता है। शर्वनाग का हृदय इस उदारता पूर्ण देवोपम व्यवहार को देखकर पलट जाता है। वह आत्मग्लानि और पश्चत्ताप के आँसुओं से अपना कलुषित हृदय धोने लगता है—" सम्राट्! मुझे वध की आज्ञा दीजिये, ऐसे नीच के लिए और कोई दण्ड नहीं है.........
जितनी यंत्रणा से यह पापी प्राण निकाला जाय, उतना ही उत्तम होगा .... दुहाई सम्राट् की! मुझे वध की आज्ञा दीजिए, नहीं तो आत्महत्या करूंगा। ऐसे देवता के प्रति मैंने दुराचार किया था। ओह!" इस प्रकार आत्मग्लानि की अभिव्यक्ति द्वारा

वह अपने कुकर्मों की कालिख अपने चरित्र पर से धोता है। ग्लानि की अनुभूति आत्मसुधार का प्रथम सोपान है। शर्वनाग अपने दुराचारों को स्पष्टतया सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त कर दिव्याचरण द्वारा आत्मोन्नति की ओर अग्रसर होता है।

सुबह का भूला यदि संध्या को घर आजाय तो वह भूला नहीं कहलाता। शर्वनाग जीवन की एक भूल को पहिचान कर जबसे सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है तबसे फिर वह विपथगामी नहीं होता। स्कन्द की न्यायसभा में देवकी और स्कन्दगुप्त की अनुपम उदारता और क्षमाशीलता से प्रभावित होकर वह प्रतिज्ञा करता है—"आशीर्वाद दो जगद्धात्री कि मैं देवचरणों में आत्मबलि देकर जीवन सफल करूं।" शर्वनाग उसका यथावत् पालन भी करता है। अन्तर्वेद का विषयपति होकर वह साम्राज्य की सच्ची सेवा में तत्पर है। उत्कोच द्वारा देश में साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कराने वाले हूणों के षडयन्त्र का वह भण्डा फोड़ता है। वह विजया के साथ देश के प्रत्येक बच्चे, बूढे और युवक को देश सेवा के लिए तत्पर करने में सन्नद्ध होता है। अन्त में वह अपने 'गुदड़ी के लालों का' जिन पर वह विश्व भर का भाण्डार लुटाने को प्रस्तुत था' लुटेरे हूणों को लुटा देता है। देश सेवा के लिए आत्मजों का बलिदान आत्मबलि से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

शर्वनाग का चरित्र विशेष घटनापूर्ण नहीं है। उसका व्यक्तित्व सामान्य कोटि का है तथा चरित्र विकास भी परिमाण में स्वल्प है। उसके सरल जीवन में कुमार्ग और सन्मार्ग के बीच जो लौटा फेरी है वह विशेष महत्वपूर्ण है और इस दृष्टि से उसका चरित्र चित्रण परम स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक पद्धति पर है।

वन्धुवर्मा

'वसुन्धरा का शृङ्गार, वीरता का वरणीय वंधु, मालवमुकुट' आर्य वन्धुवर्मा, साहसी, शूर और परम देश भक्त नरेश है। विपत्ति में धैर्य्य, युद्ध में उत्साह और वैभव तथा उत्कर्ष में विनम्रता—ये महान् गुण उसके व्यक्तित्व को गौरवान्वित करते हैं। गुप्त साम्राज्य से सन्धि के नियमानुसार वन्धुवर्मा गुप्त सम्राट के पास सहायतार्थ दूत भेजता है किन्तु वह वीर दूसरों पर ही अवलम्बित रहने वाला नहीं है। आक्रमणकारियों से दुर्ग के घिर जाने पर वह धैर्य्य नहीं खाता वरन् वह अन्तिम क्षण तक शत्रु से मोर्चा लेने के लिए प्रस्तुत होता है और डटकर युद्ध करता है।

वन्धुवर्मा रणकुशल और पराक्रमी है। गान्धार-घाटी के रणक्षेत्र में उसके नेतृत्व में असम साहसी आर्य सैनिकों ने अपूर्व सफलता प्राप्त की। उसने स्कन्द से 'नदी की तीक्ष्णधारा को लाल कर वहा देने' की जो प्रतिज्ञा की, अपने प्राणों की आहुति देकर, उसे पूरा किया। वन्धुवर्मा कूटनीति और स्वार्थवुद्धि से सर्वथा परे है। और इसी कारण उक्त रणक्षेत्र में वह ऐसा स्थान ग्रहण करता है जो सवसे अधिक संकटापन्न है। स्कन्द उसे स्वयं वहाँ पर नहीं रखना चाहता। किन्तु यह वन्धुवर्मा का ही साहस एवं कर्तव्य-भावना है कि वह संकट के समुद्र में सीधे फांद पड़ता है। वह उक्त स्थल पर दृढ़ता के साथ अन्त तक डटा रहता है तथा अपने अतुलनीय शौर्य्य और पराक्रम से अपने जीवन का वलिदान देकर शत्रु पर पूर्ण विजय प्राप्त करता है।

वन्धुवर्मा में क्षत्रियोचित साहस और शौर्य के अतिरिक्त आदर्श और कर्त्तव्य के लिए त्याग भाव एवं शील-सौजन्य पूर्ण रूप से है। स्कन्दगुप्त की सहायता द्वारा विदेशियों के आक्रमण से मालव की रक्षा हो जाने के वाद वह कृतज्ञता प्रेरित हो इस वीर

परोपकारी के लिए' और अपना 'सर्वस्व अर्पित' करने की प्रतिज्ञा करता है और उसे पूर्णतया चरितार्थ करता है। बन्धुवर्मा के पास उसका सर्वस्व, मालव का राज्य और अपना जीवन—ये दो ही वस्तुएँ हैं। राज्य पर उसका अधिकार उसके आत्मीय जनों के साथ है। अतः स्कन्द को राज्य समर्पण करने का विचार वह अपने स्त्री, भाई, बहिन आदि के सामने रखता है। उसकी रानी जयमाला के अतिरिक्त उसका उक्त प्रस्ताव सबको स्वीकृत है। जयमाला को असहमत देख वह बल प्रयोग या हठधर्मी से उसका उल्लंघन नहीं करता वरन् उसी को मालव का राज्य सौंप देता है। वह स्वयं आर्य-साम्राज्य सेना का एक साधारण पदातिक सैनिक' जीवन व्यतीत करने का निश्चय करता है। जयमाला भी अपने पति के त्याग पूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित हो अपने दुराग्रह के लिए उससे क्षमा मांगती है तथा उसके प्रस्ताव का समर्थन करती है। मालव में स्कन्दगुप्त के राज्याभिषेक के समय गोविन्दगुप्त बन्धुवर्मा की उचित प्रशंसा करते हैं—'इनका स्वार्थ-त्याग दधीचि के दान से कम नहीं।'

बन्धुवर्मा का शील-सौजन्य उसके साहस, पराक्रम और त्याग से कम प्रशंसनीय नहीं है। वैभव और उत्कर्ष काल में विनय और शील महापुरुषों का भूषण है। मालवदुर्ग के अवरोध काल में जब श्रेष्ठि-कन्या विजया उसके शरणागत हो प्राण रक्षा के लिए आकुल है तब जयमाला उस पर व्यंग्य करती है 'स्वर्णरत्न की चमक देखने वाली आँखें बिजली सी तलवारों के तेज को कब तक सह सकती हैं।' बन्धुवर्मा को यह व्यंग्य अनुपयुक्त और शील विरुद्ध प्रतीत होता है। वह अत्यन्त सहिष्णुता के साथ अपनी स्त्री को समझाता है—'प्रिये! शरणागत और विपन्न की मर्य्यादा रखनी चाहिए।'

मालव की सभा में गोविन्दगुप्त जब वृद्धावस्था के कारण महाबलाधिकृत का पद ग्रहण करने में असमर्थता प्रकट करता है तथा उक्त पद पर बन्धुवर्मा को ही अभिषिक्त करने का आग्रह करता है तब वह अत्यन्त विनम्रता के साथ अपने शील तथा गुरुजनों के प्रति आदर भाव का सुन्दर परिचय देता है—'अभी नहीं आर्य !' आप के चरणों में बैठकर यह बालक स्वदेश-सेवा की शिक्षा ग्रहण करेगा। मालव के राज कुटुम्ब का एक-एक बच्चा, आर्य जाति के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है। आप जो आज्ञा देंगे वही होगा।' उसका त्याग निस्स्वार्थ है। बन्धुवर्मा ने साम्राज्य के लिए अपना राज्य और प्राण तक अर्पित किया। उसमें उसका कोई स्वार्थ या महत्वकांक्षा नहीं है। स्कन्दगुप्त स्वयं इस बात को उसके न रहने पर भी आजीवन स्मरण करता है—'जिसने निःस्वार्थ भाव से सब कुछ मेरे चरणों में अर्पित कर दिया था, उससे कैसे उऋण होऊँगा।' बन्धुवर्म्मा का चरित्र पराक्रम, शील, स्वदेश प्रेम, कर्त्तव्य तत्परता आदि की दृष्टि से स्कन्दगुप्त के चरित्र की टक्कर का है। नाटककार ने नाटक के बीच में ही उसकी मृत्यु दिखाकर उसके चरित्र को नायक के चरित्र से अधिक प्रभाव पूर्ण नहीं होने दिया।

मातृगुप्त

मातृगुप्त प्रतिभावान्, सहृदय एवं भावुक राष्ट्रीय कवि है। काव्यसाधना को ही अपना उपजीव्य बनाकर वह जीवन में प्रवेश करता है। उसमें उसे यथेष्ट अर्थ-लाभ न होने से वह अपने मित्र धातुसेन की प्रेरणा एवं मुद्गल के सहयोग से राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण करता है।

मातृगुप्त में कार्य्य-शक्ति और साहस यथेष्ट परिमाण में है। वह राज्यचक्र में किसी महत्वाकांक्षावश नहीं आता। धातुसेन उसे भारतीय राजनीति का क्रान्तिपूर्ण वातावरण पहिले ही बता देता है—"निर्मेघ शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्ण के मेघ रंग भरेंगे। एक विकट अभिनय का आरंभ होने वाला है........" अतः देश दशा से पूर्णतया परिचित हो उसकी सेवा की पवित्र भावना से उद्बुद्ध मातृगुप्त विशुद्ध साहित्यसेवी से देशसेवक हो जाता है। वह मालव में भटार्क को बन्दी बनाने में गोविन्दगुप्त को सहयोग देता है तथा प्रपंचबुद्धि से देवसेना को बचाने में वह ऐसी तत्परता और कौशल दिखाता है कि स्कन्दगुप्त प्रसन्न होकर उसे काश्मीर का शासक नियुक्त करता है।

मातृगुप्त देश की दुरवस्था पर बैठकर, केवल आँसू बहाने वाला नहीं है। निराशा केवल थोड़ी देर के लिए ही उसका हृदय झाँक कर चली जाती है। गान्धार युद्ध के पश्चात देश को संगठित करने के लिए उसने 'उद्बोधन के गीत गाए, हृदय के उद्गार सुनाए। परन्तु पाँसा पलट कर न पलटा' फिर तो विजया से ज़रा सी प्रेरणा मिलते ही 'वह गली गली, कोने, कोने पर्य्यटन करने और पैर पकड़कर लोगों को मनाने' के लिए कटिबद्ध होकर कर्म्मक्षेत्र में कूद पड़ता है। मातृगुप्त की वाणी में देश की पुकार, अवस्था का वास्तविक दिग्दर्शन और मृतप्राय हृदयों में भी

नवजीवन का उत्साह फूंक देने वाली संजीवनी शक्ति है। आर्य्य-वीर उसकी संगीत लहरी से प्रोत्साहित हो भीषण-संग्राम में शत्रु को पराजित करते हैं। मातृगुप्त सच्चा राष्ट्रकवि है। अपनी लेखनी और तलवार दोनों ही से राष्ट्र सेवा करना उसके जीवन का परम कर्तव्य है।

प्रकृति प्रेम मातृगुप्त के रोम रोम में व्याप्त है। उसकी कोमल कल्पना के प्राङ्गण में मूक प्रकृति मुखर हो उठती है। काश्मीर के हिमाच्छादित हिम-शृंग और अमृत-सरोवर उसके कंठ में बैठकर सरस्वती को रुलाते और हँसाते हैं। धातुसेन के शब्दों में उसकी "कोमल कल्पना वाणी की वीणा में झंकार उत्पन्न करती है।"

काव्य साधना वह केवल उदर पूर्ति के लिए नहीं करता है वरन् उसमें उसकी सच्ची निष्ठा है। काव्य उसके भूखे हृदय का आहार है। इसके लिए वह दरिद्रता का कठोर व्यंग्यात्मक अट्टहास सुनता है किन्तु वह सरस्वती की उपासना-मंदिर का द्वार नहीं छोड़ता। वह जीवनमृत्यु के संघर्ष में उसी के द्वारा अमरपथ का पथिक बनता है। उसकी काव्य प्रतिभा समादृत है और समष्टि के लिए श्रेयस्कर है।

मातृगुप्त का प्रणय भावुकता प्रधान है। गणिका से प्रेम करके भी वह आलम्बन के संयोग और वियोग की यथार्थ अनुभूति करता है। आलम्बन के बाजारू होने पर भी उसका प्रणय बाजारू नहीं है। मालिनी काश्मीर की सुप्रसिद्ध वार-विलासिनी है। मातृगुप्त उसको अपने हृदय की 'आराध्य देवता' बनाकर उसकी मानसपूजा करता है। उसका संयोग उसके भिखारी संसार पर स्वर्ण की वर्षा करता है, वह उसके परिरम्भ मुकुल में बन्दी अलि सा काँपता है। उसके प्रेम का प्याला छलक कर अपनी लहरियों से उसके सुख को माँपने लगता है। मातृगुप्त के काश्मीर छोड़ देने

मातृगुप्त

मातृगुप्त प्रतिभावान्, सहृदय एवं भावुक राष्ट्रीय कवि है। काव्यसाधना को ही अपना उपजीव्य बनाकर वह जीवन में प्रवेश करता है। उसमें उसे यथेष्ट अर्थ-लाभ न होने से वह अपने मित्र धातुसेन की प्रेरणा एवं मुद्गल के सहयोग से राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण करता है।

मातृगुप्त में कार्य्य-शक्ति और साहस यथेष्ट परिमाण में है। वह राज्यचक्र में किसी महत्वाकांक्षावश नहीं आता। धातुसेन उसे भारतीय राजनीति का क्रान्तिपूर्ण वातावरण पहिले ही बता देता है—"निर्मेघ शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्ण के मेघ रंग भरेंगे। एक विकट अभिनय का आरंभ होने वाला है........" अतः देश दशा से पूर्णतया परिचित हो उसकी सेवा की पवित्र भावना से उद्बुद्ध मातृगुप्त विशुद्ध साहित्यसेवी से देशसेवक हो जाता है। वह मालव में भटार्क को बन्दी बनाने में गोविन्दगुप्त को सहयोग देता है तथा प्रपंचबुद्धि से देवसेना को बचाने में वह ऐसी तत्परता और कौशल दिखाता है कि स्कन्दगुप्त प्रसन्न होकर उसे काश्मीर का शासक नियुक्त करता है।

मातृगुप्त देश की दुरवस्था पर बैठकर, केवल आँसू बहाने वाला नहीं है। निराशा केवल थोड़ी देर के लिए ही उसका हृदय झाँक कर चली जाती है। गान्धार युद्ध के पश्चात् देश को संगठित करने के लिए उसने 'उद्बोधन के गीत गाए, हृदय के उद्गार सुनाए। परन्तु पाँसा पलट कर न पलटा' फिर तो विजया से जरा सी प्रेरणा मिलते ही 'वह गली गली, कोने, कोने पर्य्यटन करने और पैर पकड़कर लोगों को मनाने' के लिए कटिबद्ध होकर कर्मक्षेत्र में कूद पड़ता है। मातृगुप्त की वाणी में देश की पुकार, अवस्था का वास्तविक दिग्दर्शन और मृतप्राय हृदयों में भी

नवजीवन का उत्साह फूंक देने वाली संजीवनी शक्ति है। आर्य्य-वीर उसकी संगीत लहरी से प्रोत्साहित हो भीषण-संग्राम में शत्रु को पराजित करते हैं। मातृगुप्त सच्चा राष्ट्रकवि है। अपनी लेखनी और तलवार दोनों ही से राष्ट्र सेवा करना उसके जीवन का परम कर्तव्य है।

प्रकृति प्रेम मातृगुप्त के रोम रोम में व्याप्त है। उसकी कोमल कल्पना के प्राङ्गण में मूक प्रकृति मुखर हो उठती है। काश्मीर के हिमाच्छादित हिम-शृंग और अमृत-सरोवर उसके कंठ में बैठकर सरस्वती को रुलाते और हँसाते हैं। धातुसेन के शब्दों में उसकी "कोमल कल्पना वाणी की वीणा में झंकार उत्पन्न करती है।"

काव्य साधना वह केवल उदर पूर्ति के लिए नहीं करता है वरन् उसमें उसकी सच्ची निष्ठा है। काव्य उसके भूखे हृदय का आहार है। इसके लिए वह दरिद्रता का कठोर व्यंग्यात्मक अट्टहास सुनता है किन्तु वह सरस्वती की उपासना-मंदिर का द्वार नहीं छोड़ता। वह जीवनमृत्यु के संघर्ष में उसी के द्वारा अमरपथ का पथिक बनता है। उसकी काव्य प्रतिभा समाहत है और समष्टि के लिए श्रेयस्कर है।

मातृगुप्त का प्रणय भावुकता प्रधान है। गणिका से प्रेम करके भी वह आलम्बन के संयोग और वियोग की यथार्थ अनुभूति करता है। आलम्बन के बाजारू होने पर भी उसका प्रणय बाजारू नहीं है। मालिनी काश्मीर की सुप्रसिद्ध वार-विलासिनी है। मातृगुप्त उसको अपने हृदय की 'आराध्य देवता' बनाकर उसकी मानसपूजा करता है। उसका संयोग उसके भिखारी संसार पर स्वर्ण की वर्षा करता है, वह उसके परिरम्भ मुकुल में बन्दी अलि सा काँपता है। उसके प्रेम का प्याला छलक कर अपनी लहरियों से उसके मुख को माँपने लगता है। मातृगुप्त के काश्मीर छोड़ देने

मातृगुप्त

मातृगुप्त प्रतिभावान्, सहृदय एवं भावुक राष्ट्रीय कवि है। काव्यसाधना को ही अपना उपजीव्य बनाकर वह जीवन में प्रवेश करता है। उसमें उसे यथेष्ट अर्थ-लाभ न होने से वह अपने मित्र धातुसेन की प्रेरणा एवं मुद्गल के सहयोग से राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण करता है।

मातृगुप्त में कार्य्य-शक्ति और साहस यथेष्ट परिमाण में है। वह राज्यचक्र में किसी महत्वाकांक्षावश नहीं आता। धातुसेन उसे भारतीय राजनीति का क्रान्तिपूर्ण वातावरण पहिले ही बता देता है—"निर्मेघ शून्य आकाश में शीघ्र ही अनेक वर्ण के मेघ रंग भरेंगे। एक विकट अभिनय का आरंभ होने वाला है........." अतः देश दशा से पूर्णतया परिचित हो उसकी सेवा की पवित्र भावना से उद्बुद्ध मातृगुप्त विशुद्ध साहित्यसेवी से देशसेवक हो जाता है। वह मालव में भटार्क को बन्दी बनाने में गोविन्दगुप्त को सहयोग देता है तथा प्रपंचबुद्धि से देवसेना को बचाने में वह ऐसी तत्परता और कौशल दिखाता है कि स्कन्दगुप्त प्रसन्न होकर उसे काश्मीर का शासक नियुक्त करता है।

मातृगुप्त देश की दुरवस्था पर बैठकर, केवल आँसू बहाने वाला नहीं है। निराशा केवल थोड़ी देर के लिए ही उसका हृदय झाँक कर चली जाती है। गान्धार युद्ध के पश्चात् देश को संगठित करने के लिए उसने 'उद्बोधन के गीत गाए, हृदय के उद्गार सुनाए। परन्तु पाँसा पलट कर न पलटा' फिर तो विजया से ज़रा सी प्रेरणा मिलते ही 'वह गली गली, कोने, कोने पर्य्यटन करने और पैर पकड़कर लोगों को मनाने' के लिए कटिबद्ध होकर कर्म्मक्षेत्र में कूद पड़ता है। मातृगुप्त की वाणी में देश की पुकार, अवस्था का वास्तविक दिग्दर्शन और मृतप्राय हृदयों में भी

धातुसेन

सिंहल का राजकुमार धातुसेन, उपनाम कुमारदास, विनोदी, विवेकयुक्त एवं वाक्पटु है। वह विदेशी होते हुए भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित है। वह भारत भ्रमण के लिए तथा अपने पूर्व परिचित मित्र प्रख्यातकीर्ति से मिलने के लिए भारत आता है किन्तु यहाँ की क्रान्तिपूर्ण राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का अनुशीलन कर वह भारतीय गौरव तथा संस्कृति की रक्षा के लिए सक्रिय भाग लेता है।

धातुसेन की विनोद पूर्ण वाक्पटुता का परिचय नाटक के प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में ही मिल जाता है। वह हास्य मिश्रित व्यंग्योक्तियों से सम्राट कुमारगुप्त को निरुत्तर सा कर देता है। समस्त राजसभा उसकी वग्मिकता से प्रभावित हो जाती है और उसे निरन्तर आदर पूर्वक स्मरण करती है।

धातुसेन की विनोदशीलता केवल वाह्य है। वस्तुतः वह गंभीर विचारशील है और परिस्थितियों का विश्लेषण कर निष्कर्ष पर पहुँचने की उसमें अपूर्व क्षमता है। वह नाटक का प्रथम पात्र है जो कुमारगुप्त कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का विवेचन कर यह घोषणा करता है—"विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट तरुणी की आकांक्षाओं के साधन बन रहे हैं। काले मेघ क्षितिज में एकत्र हैं, शीघ्र ही अन्धकार होगा। परन्तु आशा का केन्द्र ध्रुवतारा एक युवराज 'स्कन्द' है।"

धातुसेन कोरा विचारक ही नहीं है वरन् वह अपने आदर्शों के अनुरूप कठोर कर्मक्षेत्र में अवतरित हो कार्य्य करने वाला भी है। वह स्कन्द के साथ वन्दीगृह में देवकी के उद्धार के लिए आता है। देश में ब्राह्मणों और बौद्धों के बीच फैले हुए साम्प्रदायिक विद्वेष को दूर करने की वह सफल चेष्टा करता है। उसके गम्भीर धर्मज्ञान एवं पाण्डित्यपूर्ण तर्कों से प्रभावित होकर

पर मालिनी तो उसे भूलकर 'सोने के लिए नन्दन का अम्लान कुसुम' बेंच डालती है किन्तु मातृगुप्त उसकी स्मृति को कंगाल की निधि की भाँति अपनी हृदय-मंजूषा में सुरक्षित रखता है। मालिनी अपने पतिताचरणो के कारण भौतिक अर्थ में तो मातृगुप्त की प्रणयिनी नहीं रहती किन्तु मातृगुप्त का मानस संबन्ध उससे चिरस्थायी रहता है। वह अत्यन्त करुणा-कलित हृदय से मालिनी को विदा करते हुए कहता है—"मैं इतना दृढ़ नहीं हूँ मालिनी! कि तुम्हें इस अपराध के कारण भूल जाऊं। पर वह स्मृति दूसरे प्रकार की होगी। उसमें ज्वाला न होगी। धुआँ उठेगा और तुम्हारी मूर्ति धुंधली होकर सामने आवेगी।"

विस्तार की दृष्टि से मातृगुप्त का चरित्र चाहे महत्वपूर्ण न हो किन्तु सरस काव्य मय अनूठी उक्तियाँ नाटक में यत्र तत्र उसके मुख से सुनकर हम उनके सरल एवं भावुक व्यक्तित्व को सहसा भुला नहीं सकते। मातृगुप्त के चरित्र में नाटककार का कवि हृदय स्पष्ट रूप से झाँक रहा है। यही उसका महत्व और उसकी विशेपता है।

मुद्गल

मुद्गल नाटक का कल्पित पात्र है। नाटक में उसका प्रयोग हास्य विधान, अनभिनीत घटनाओं की सूचना और यत्रतत्र राजकीय समाचारों के आदान-प्रदान के योग में हुआ है। उसके चरित्र में किसी विशिष्ट आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं है।

मुद्गल महादेवी देवकी का संदेश वाहक है। प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में वह कुमारगुप्त से महादेवी का यह अनुरोध प्रकट करने आता है कि वे युवराज भट्टारक की कल्याण-कामना के लिए भगवान चक्रपाणि की पूजा में सम्मिलित होने आवें। आगे चलकर मुद्गल महादेवी का संदेश लेकर युवराज को खोजता हुआ कुसुमपुर से अवन्ती और अवन्ती से मूलस्थान की यात्रा करता है। निश्चय ही वह महादेवी का विश्वासपात्र और उनका शुभचिन्तक है। महादेवी की भटार्क आदि के षडयन्त्र से रक्षा करने के उपायों की चिन्तना में व्यस्त धातुसेन को मुद्गल ही यह सुझाता है—

"महादेवी तो क्षत्राणी हैं, संभवतः उनकी मुक्ति शस्त्र से होगी।"

मुद्गल हास्य प्रधान पात्र है। वह अपनी विनोदपूर्ण मुखरता से गम्भीर राजकीय वातावरण को हास्यमय कर देता है। कुमार गुप्त का दर्बार उसकी उक्तियों से अपनी सहज गम्भीरता का परित्याग कर हंसने लगता है। देवसेना अपनी दार्शनिक गम्भीरता को थोड़ी देर के लिए भुलाकर मुद्गल के हास्यपूर्ण कथनों से अपना मनोरंजन करने लगती है। सुकवि मातृगुप्त भी मुद्गल की विनोद पूर्ण प्रकृति का आनन्द लेने के लिए उससे जान बूझ कर छेड़छाड़ करता है। पेटूपन हास्य का सहज आलम्बन है। मुद्गल में इसका आतिशय्य है। नाटक में वह अपनी इसी प्रवृत्ति का परिचय देते हुए प्रवेश करता है—"रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी तो। अक्षय तूणीर,

ब्राह्मण और बौद्ध अपना पारस्परिक द्वेष भूल जाते हैं। आततायी हूणों के षडयन्त्रों को तोड़कर उन्हें विफल मनोरथ करने में वह महत्त्व-पूर्ण भाग लेता है। धातुसेन अपने साहस और पराक्रम से अनन्त-देवी हूण सेनापति आदि को वन्दी बनाकर न केवल प्रख्यात कीर्ति के जीवन की ही रक्षा करता है, वरन् विदेशियों और राष्ट्रद्रोहियों के महान् विनाशकारी षडयन्त्र से देश को बचाता है।

आर्यराष्ट्र और भारतभूमि के प्रति उसकी कार्य्यतत्परता निःस्वार्थ है। देश पर विदेशियों के आक्रमण तथा अन्तर्विद्रोह से उत्पन्न परिस्थितियों में, उच्च पद की अभिलाषा से, न तो वह भटार्क की भाँति षडयन्त्र रच कर विदेशियों को आमन्त्रित करता है और न वह अर्थलिप्सा से शर्वनाग की भाँति राजपुरुषों की हत्या आदि में सहयोग देने की कल्पना करता है। वह भारत की विश्वबन्धुत्व की भावना, भारतीय ज्ञानगरिमा, भारतीय संस्कृति एवं भारत के मनोहर प्राकृतिक दृश्यों से अत्यन्त प्रभावित है। वह आत्मप्रेरणा से ही प्रख्यातकीर्ति से कहता है—"भारत के कल्याण के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है।" भारत के प्रति उसका निःस्वार्थ आत्मसमर्पण भाव उस के हृदय की सात्विक मनोवृत्तियों का परिचायक है।

धातुसेन स्वयं गुणज्ञ और गुणग्राहक है। मातृगुप्त की कल्पनाशील भावुकता और देवकी की देवोपम उदारता का यथार्थ अनुभव कर वह उनकी मुक्तकण्ठ से सराहना करता है। गुणवान् मनुष्य ही गुणों की सच्ची पहिचान कर सकते हैं। धातुसेन की गुणग्राहकता उसके स्वयं गुणी होने की द्योतक है।

मुद्गल

मुद्गल नाटक का कल्पित पात्र है। नाटक में उसका प्रयोग हास्य विधान, अनभिनीत घटनाओं की सूचना और यत्रतत्र राजकीय समाचारों के आदान-प्रदान के योग में हुआ है। उसके चरित्र में किसी विशिष्ट आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं है।

मुद्गल महादेवी देवकी का संदेश वाहक है। प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य में वह कुमारगुप्त से महादेवी का यह अनुरोध प्रकट करने आता है कि वे युवराज भट्टारक की कल्याण-कामना के लिए भगवान चक्रपाणि की पूजा में सम्मिलित होने आवें। आगे चलकर मुद्गल महादेवी का संदेश लेकर युवराज को खोजता हुआ कुसुमपुर से अवन्ती और अवन्ती से मूलस्थान की यात्रा करता है। निश्चय ही वह महादेवी का विश्वासपात्र और उनका शुभचिन्तक है। महादेवी की भटार्क आदि के षडयन्त्र से रक्षा करने के उपायों की चिन्तना में व्यस्त धातुसेन को मुद्गल ही यह सुझाता है—

"महादेवी तो क्षत्राणी हैं, संभवतः उनकी मुक्ति शस्त्र से होगी।"

मुद्गल हास्य प्रधान पात्र है। वह अपनी विनोदपूर्ण मुखरता से गम्भीर राजकीय वातावरण को हास्यमय कर देता है। कुमार गुप्त का दर्बार उसकी उक्तियों से अपनी सहज गम्भीरता का परित्याग कर हंसने लगता है। देवसेना अपनी दार्शनिक गम्भीरता को थोड़ी देर के लिए भुलाकर मुद्गल के हास्यपूर्ण कथनों से अपना मनोरंजन करने लगती है। सुकवि मातृगुप्त भी मुद्गल की विनोद पूर्ण प्रकृति का आनन्द लेने के लिए उससे जान बूझ कर छेड़छाड़ करता है। पेटूपन हास्य का सहज आलम्बन है। मुद्गल में इसका आतिशय्य है। नाटक में वह अपनी इसी प्रवृत्ति का परिचय देते हुए प्रवेश करता है—"रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी तो। अक्षय तूणीर,

अक्षय कवच सब लोगों ने सुना होगा, परन्तु इस अक्षय मंजूषा का हाल मेरे सिवा कोई नहीं जानता, इसके भीतर कुछ रख कर देखो, मैं कैसी शान्ति से बैठा रहता हूँ।" सुस्वादु भोजन के निमन्त्रण का नाम सुनते ही अपनी स्त्री पर मुद्गल का सारा कृत्रिम क्रोध काफूर हो जाता है। देवसेना के यह कहते ही कि 'अच्छा, आज तुम्हारा निमन्त्रण है—तुम्हारी स्त्री के साथ, मुद्गल अपनी स्त्री के प्रति अपनी सारी खीझ, जो देवसेना के उक्त कथन पूर्व उसी के समक्ष व्यक्त कर चुका था, भुला देता है, और निमन्त्रण का नाम सुनते ही चट से कहता है "पुण्यकाल बीत न जाय ......चलिए, मैं उसे बुला लेता हूँ।"

मुद्गल का हास्य अशिष्ट अथवा भोंडा नहीं है। वह जिस प्रकार के समाज में विचरण करता है उसके अनुकूल ही उसकी विनोद वार्ता है। उसका हास्य मर्य्यादित और परिस्थिति के अनुकूल होने के कारण सर्वसाधारण के अनुरंजन की वस्तु है। मुद्गल अपनी इस विनोदी प्रकृति के कारण ही नाटक का सर्वप्रिय (Popular) पात्र है।

मुद्गल के स्वभाव में विनोद के अतिरिक्त सहानुभूति का भाव भी पर्य्याप्त रूप में है। मातृगुप्त की अकिञ्चन दशा से प्रभावित होकर वह उसे युवराज भट्टारक के पास रखवा देने का वचन देता है, और उसे पूरा भी करता है। हूणों के हाथों से निरीह नागरिकों को यातना पाते देख कर उसका हृदय सहानुभूति से कातर एवं त्रस्त हो उठता है। वह आगे बढ़ कर उनकी रक्षा के उपाय में मातृगुप्त को समुचित योग देता है। अन्त में वह विजया के विरोधी आचरणों को जानते हुए भी उसकी आश्रय हीनता देख कर सहानुभूति से द्रवित हो जाता है, और विजया के पूछने पर वह उसे स्कन्दगुप्त का पता भी बता देता है। मुद्गल ने औरों से जो सहानुभूति अपने लिए मुक्त हस्त प्राप्त की उसे वह दूसरों को देने में भी स्वयं कभी संकोची नहीं है।

नाटककार ने मुद्गल के द्वारा अन्तिम अङ्क के प्रथम दृश्य में अनेक नाटकीय घटनाओं एवं व्यापारों का परिचय कराया है । उन घटनाओं का प्रदर्शन वस्तु विस्तार एवं व्यापार जटिलता की दृष्टि से नाटककार को अभिप्रेत नहीं है । नाटकीय योजना की दृष्टि से पात्रों का इस प्रकार का प्रयोग अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता । नाटकीय वस्तु और व्यापार की दृष्टि से मुद्गल का चरित्र चाहे महत्त्वपूर्ण न हो किन्तु उसकी विनोदी प्रकृति निरन्तर स्मरणीय है । नाटककार को इसमें यथेष्ट सफलता मिली है ।

जयमाला

मालव नरेश बंधुवर्मा की महिषी जयमाला अपने पति के ही समान शूर और साहसी है। जिस समय मालव दुर्ग आक्रमण-कारियों से घिर जाता है और स्कन्दगुप्त की सहायता आने में विलम्ब होती है, उस समय बंधुवर्मा अत्यंत चिन्तित और व्याकुल भाव से अपनी संकटापन्न परिस्थिति का परिचय देते हुए जयमाला से कहते हैं—'प्रिये ! अभी तक युवराज का कोई संदेश नहीं मिला। सम्भवतः शक और हूणों की सम्मिलित वाहिनी से आज दुर्ग की रक्षा न कर सकूँगा।' जयमाला सामान्य स्त्री की भाँति इससे अधीर और व्याकुल न होकर अत्यन्त साहसपूर्ण शब्दों में कहती है—'नाथ तब क्या मुझे स्कन्दगुप्त का अभिनय करना होगा ? क्या मालवेश को दूसरे की सहायता पर ही राज्य करने का साहस हुआ था ? जाओ! प्रभु ! सेना लेकर सिंह विक्रम से शत्रु-सेना पर टूट पड़ो ! दुर्ग रक्षा का भार मैं लेती हूँ ?" जयमाला के लिए तो युद्ध भी एक गान ही है, और एक वीर क्षत्राणी के समान चिर-संगिनी खड्गलता' से उसका 'चिर स्नेह है'। अन्तःपुर का द्वार टूटने और 'विजयी शत्रु-सेनापति के प्रवेश' करने पर वह भी तलवार लेकर शत्रुओं से युद्ध करती है।

जयमाला वीर है पर उसमें स्त्रियोचित कुछ दुर्बलताएं हैं। वह अपनी ननद देवसेना की तरह 'सर्वात्मा के स्वर में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का लय' करने में स्वभाव से ही तत्पर नहीं है। वह मालव का राज्य स्कन्दगुप्त को समर्पित करने वाले बन्धुवर्मा के प्रस्ताव का विरोध करती है—'आर्य्यपुत्र ! अपना पैतृक राज्य इस प्रकार दूसरों के पदतल में निस्संकोच अर्पित करते हुए हृदय काँपता नहीं है ? क्या फिर उन्हीं की सेवा करते हुए दास के समान जीवन व्यतीत करना होगा।" स्वार्थपूर्ण ममत्व नारी स्वभाव

की सामान्य दुर्बलता है। इनके अपवाद बहुत थोड़े हैं। जयमाला भी इसी भाव की प्रेरणा से समष्टि के लिए व्यष्टि की सम्पूर्ण अवहेलना करने को प्रस्तुत नहीं है। साथ ही यदि वह इतना ऊँची नहीं है कि वह आत्मसमर्पण के प्रत्येक ताल में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को 'विस्मृत' कर सके, तो वह इतनी दुराग्रही और नीच भी नहीं है कि वह अपने पति तथा अन्य आत्मीयजनों की उपेक्षा करे अथवा अनन्तदेवी की भाँति उन्हीं के विरुद्ध षड्यन्त्र रचकर उनका नाश करने को सोचे। जयमाला पति के अटल निश्चय के सामने सिर झुकाकर क्षमा माँगती है और उसे स्वीकार करती है। उसकी यह स्वीकृति कृत्रिम या दबाव से नहीं वरन् हृदय की सच्ची प्रेरणा से है। स्कन्दगुप्त को मालव का सिंहासन समर्पित करती हुई वह कहती है—'देव! यह सिंहासन आपका है, मालवेश का इस पर कोई अधिकार नहीं।'

नाटकों में सभी पात्रों को आदर्श के साँचों में ढालना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। जब कोई अपनी दुर्बलताओं का दमन कर ऊपर उठता है तभी उसके चरित्र का गौरव प्रस्फुटित होता है। जयमाला के चरित्र का यह महान गौरव है कि वह अपनी स्वभावज दुर्बलता को दबाकर अपने पति की अनुगामिनी होती है। उसकी पतिभक्ति का चरम रूप तो हमें उसके पति के साथ सती हो जाने में दिखाई पड़ता है। उसने यथार्थ ही भारतीय क्षत्रिय नारी जीवन की गौरव-पूर्ण झाँकी अपने आचरणों एवं चरित्र द्वारा प्रस्तुत की है।

अनन्त देवी

अनन्त देवी सम्राट कुमारगुप्त की द्वितीया युवती महिषी है। उसमें स्वभाव ही से महत्वाकांक्षा है। वह ज्येष्ठ किन्तु सपत्नी पुत्र स्कन्दगुप्त के स्थान पर लोक मर्य्यादा एवं राजनियम के विरुद्ध अपने कनिष्ठ पुत्र पुरगुप्त को राजसिंहासन पर बैठाना चाहती है! वह अबला होकर अपनी नियति का पथ अपने पैरों चलने का साहस रखती है। महत्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग वह अपने साहस और प्रयासबल से प्राप्त करना चाहती है। वह जानती है कि महत्वा-काँक्षा की प्राप्ति के लिए असीम साहस और शक्ति होना चाहिए। अनन्तदेवी कहती है—'जो चूहे के शब्द से शंकित होते हैं, जो अपनी साँस से ही चौंक उठते हैं, उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है।' अतः अनन्तदेवी में अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए साहस, कठोरता, कौशल एवं कुटिलता सभी कूट कूट कर भरी हुई है। वह 'विषय-विह्वल वृद्ध सम्राट को' विलासमय जीवन की जटिल गुत्थियों को सुलझाने में व्यस्त कर अपने लिए कार्य्यक्षेत्र एवं अनुकूल वातावरण बना लेती है। अनन्तदेवी भटार्क को महा-बलाधिकृत बनवाकर उसे चिरकाल के लिए कृतज्ञता के पाश में बाँध लेती है। भटार्क उसके कार्य साधन का उपयुक्त अस्त्र बन जाता है। क्रूराकृति एवं क्रूरकर्म्मा प्रपंचबुद्धि को भी वह अपनी ओर मिलाती है। भटार्क एवं प्रपंचबुद्धि के सहयोग से अनन्तदेवी मगध में 'पारसीक मदिरा की धारा की जगह 'रक्त की धारा' बहाती है। वह गुप्त साम्राज्य में 'खंड-प्रलय' प्रस्तुत कर देती है। कुमारगुप्त की कौशलपूर्ण एवं रहस्यमय मृत्यु में अनन्तदेवी का हाथ है। महादेवी देवकी की हत्या के आयोजन में उसका प्रत्यक्ष प्रोत्साहन एवं सक्रिय चेष्टा है। उसने साम्राज्य एवं आर्य्य जाति की सुरक्षा एवं शान्ति की भी परवाह न कर हूणों

से उत्कोच लेकर उनके साथ षड़यन्त्र किया। नगरद्वार के युद्ध में स्कन्दगुप्त की पराजय अनन्तदेवी की कुमंत्रणा कुपरिणाम है।

अनन्तदेवी लक्ष्य भ्रष्ट एवं मर्यादा विहीन होने के कारण अपने उद्देश्यों में पूर्णतया सफल नहीं होती। वह कुसुमपुर एवं मगध का सिंहासन प्राप्त तो अवश्य करती है किन्तु उसकी यह सफलता क्षणिक एवं सारहीन है। उसकी विफलता का कारण उसके पुत्र पुरगुप्त का निकम्मापन और उसके विश्वस्त सहयोगी भटार्क की विचार अस्थिरता है। पुरगुप्त के निकम्मेपन और निर्वीर्यता के लिए अनन्तदेवी एक बार उससे खीझ कर उसकी कठोर भर्त्सना करती है—"निर्वीर्य, निरीह बालक तुम्हें भी इसकी प्रसन्नता? लज्जा के गर्त में डूब ही जाते।" भटार्क अनन्तदेवी के प्रभाव से पुरगुप्त को सिंहासन पर बैठाने के लिए प्रतिश्रुत होकर भी स्कन्द के उपकारों के दुर्वह बोझ से डाँवाँडोल होता रहता है। पुरगुप्त की दुर्बलता और भटार्क की अस्थिरता के कारण अनन्तदेवी की सफलता का अस्थायी होना परम स्वाभाविक है।

अनन्तदेवी में अवसर के अनुकूल नरम गरम बातचीत कर दूसरों पर अपना प्रभाव डालने की अद्भुत क्षमता है। भटार्क के समक्ष वह 'शत्रुपुरी में असहाय और अबला' बनकर उसकी सहायता प्राप्त करती है। देवकी के समक्ष वह सिंहनी के समान गरजकर उसे भयभीत करने का प्रयास करती है। वह देवकी से कहती है—'परन्तु व्यंग्य की ज्वाला रक्त से भी नहीं बुझती देवकी! तुम मरने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।' वही अनन्तदेवी जब स्कन्द के समक्ष बन्दिनी होकर विचारार्थ आती है तब वह अत्यन्त विनम्र होकर पारिवारिक सम्बन्धों की दुहाई देती है और स्कन्द की सहानुभूति प्राप्त करती है। महादेवी देवकी की हत्या में विफल होने पर वह स्कन्दगुप्त से 'तुम्हारे पिता की पत्नी हूँ' कहकर अपना बचाव करती है। विजया प्रणय-वञ्चना से पीड़ित हो अनन्तदेवी

की भर्त्सना करने का दुःसाहस करती है। वह 'साम्राज्य का स्वप्न' गला दबाकर भंग कर देने की धमकी देती है। किन्तु अनन्तदेवी के उग्र प्रतिवाद के समक्ष उसे भी मुँह की खानी पड़ती है। निस्सन्देह अनन्तदेवी अपने समय की बड़ी कुटिल, भयानक और विलक्षण बुद्धि सम्पन्न नारी रही होगी।' भटार्क ने उसके सम्बन्ध में जो यह कहा—'दुर्भेद्य नारी हृदय में विश्व-प्रहेलिका का रहस्य बीज है' वह निस्सार नहीं है।

अनन्तदेवी जिस प्रकार कुटिल एवं महत्वाकाँक्षापूर्ण है उसी प्रकार वह विषय-लोलुप एवं विलासिनी भी है। वह प्रथम परिचय में ही भटार्क को अपने प्रेमपाश में बाँधना चाहती है। इस बात का अनुभव करके ही भटार्क कहता है—'इसकी आँखों में काम पिपासा के संकेत अभी उबल रहे हैं। अतृप्ति की प्रवंचना कपोलों पर रक्त होकर क्रीड़ा कर रही है। हृदय में श्वासों की गरमी विलास का संदेश वहन कर रही है।" अनन्तदेवी अपने पुत्र पुरगुप्त के समक्ष भी निर्लज्जता पूर्वक मदिरापान एवं भटार्क के साथ कामुक चेष्टाएं करती है। राजमहिषी होकर इस प्रकार की चारित्रिक भ्रष्टता में अपने को मग्न कर देना अनन्तदेवी की महान दुर्बलता है।

अनन्तदेवी का चरित्र आदर्श से बहुत गिरा हुआ है। वह स्वार्थ से प्रेरित हो पति की हत्या, पुत्र से विरोध, सपत्नी की वध चेष्टा और साम्राज्य के विरुद्ध विदेशियों को सहायता प्रदान करती है। उसके नीच कर्मों का फल भी उसे कार्यों के अनुकूल ही मिलता है। 'मगध में महादेवी और परम भट्टारक का अभिनय' होता है किन्तु वह निस्सार और क्षणिक है। यथार्थ ही उसने अपने 'कुत्सित कर्मों की राख से कुमारगुप्त के अग्नि तेज को ढँक दिया।' 'प्रसाद' ने उसका अन्त नाटक के अन्तर्गत नहीं प्रकट किया क्योंकि वह इतिहास विरुद्ध होता, अन्यथा आदर्श रक्षा हेतु ऐसे पात्रों का अन्त समीचीन है।

देवसेना

मालव कुमारी देवसेना का पावन चरित्र 'प्रसाद' जी की अमर कल्पना है। उसके चरित्र में नारी जीवन की आदर्श सहिष्णुता, त्याग, उदारता, समरसता, भावुकता, गंभीरता आदि इस भाँति प्रतिष्ठित है कि वह काल्पनिक होते हुए भी वास्तविक प्रतीत होता है। वह 'भाव विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई कुरंगी सी कुमारी' जीवन के संघर्ष में अपनी सहज उदारता, साहस एवं सहानुभूति से अपने युग पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप डाल देती है।

देवसेना के चरित्र में उसकी संगीत-प्रियता और पावन प्रेम-व्यंजना—ये दो विशिष्ट गुण हैं। उसकी संगीत प्रियता जन्म-जात है। वह जीवन की विषम घड़ियों को संगीत की लहरी पर तैराकर बहा देती है। मालव दुर्ग पर हूणों एवं शकों की सम्मिलित वाहिनी के आक्रमण काल में अपनी भाभी से देवसेना कहती है—'एक बार गा लूँ हमारा प्रियगान, फिर गाने को मिले या नहीं।' देवसेना का कोई कार्य्य बिना गान के नहीं होता। उसमें संगीत प्रियता का आतिशय्य देखकर भीमवर्मा कह बैठता है—'देवसेना तुझे गाने का भी विचित्र रोग है।' औरों के लिए, अर्थात् विजया और भीमवर्मा सदृश स्थूल एवं बाह्य दृष्टि से संगीत देखने वालों के लिए, गाना चाहे एक रोग हो, किन्तु देवसेना संगीत को ब्रह्म की सत्ता के समान अणु परिमाणु में, उद्भिज एवं अंडज में, सर्वत्र ही परिव्याप्त देखती है। वह विजया से कहती है—'प्रत्येक परिमाणु के मिलन में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है। .... पक्षियों को देखो, उनकी 'चहचह' 'कलकल' 'छलछल' में, काकली में रागिनी है।' यहाँ पर देवसेना सामान्य अनुभूति के स्तर से बहुत ऊँचे उठकर रहस्यात्मक अनुभूति के क्षेत्र में पहुँच जाती है इसीलिए उसकी भावाभिव्यक्ति संकेतपूर्ण एवं गंभीरतम हो जाती है।

पारिजात वृक्ष का परिचय देने में देवसेना, विजया के समक्ष, अपना ही जीवन अप्रस्तुत रूपसे व्यक्त करती है। यहाँ पर उसका चरित्र मानव पहुँच के बाहर बहुत ऊँचा उठा प्रतीत होता है। देवसेना संगीत की प्रभविष्णुता और उसका मनोहर स्वरूप विश्व प्रकृति में जिस प्रकार सर्वत्र देखती है वैसे ही मानव प्रकृति में भी उसका मंगलमय रूप उसके सामने है। वह जयमाला से कहती है। 'सर्वात्मा के स्वर में, आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल में, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना एक मनोहर संगीत है।'

देवसेना का संगीत प्रेम करुण भावावेष्टित है। जयमाला कहती है 'जब तू गाती है तब तेरे भीतर की रागनी रोती है।' देवसेना स्वयं अपनी सखी से कहती है—'जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की बीणा मिला लेती हूँ।' जिस प्रणय उपासना के लिए वह वागीश्वरी की तान का अभ्यास कर चुकी थी उसके दुष्प्राप्य हो जाने पर उसके संगीत का स्वर वेदनायुक्त हो जाता है। प्रियतम के अभाव में भी संगीत के प्रति उसका आकर्षण अक्षुण्ण रहता है। देवसेना की एक स्वगतोक्ति से यही भाव व्यंजित होता है—'मेरे प्रिय गान! अब क्यों गाऊँ और क्यों सुनाऊँ? इस बार बार के गाए हुए गीतों में क्या आकर्षण है—क्या बल है जो खींचता है? केवल सुनने को ही नहीं, प्रत्युत जिसके साथ अनन्तकाल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है।'

देवसेना के जीवन में उसकी प्रणय-कहानी बड़ी मर्मस्पर्शी है। वह अपने जीवन के बसंत काल में जिस स्कंद की मन्मथ मूर्ति मानस में प्रतिष्ठित करती है वही उसके दुर्भाग्य से विजया की ओर भ्रमवश आकर्षित हो जाता है। देवसेना मालव की राजसभा में विजया के प्रति कहे गए स्कन्दगुप्त के इस कथन का—'विजया, यह तुमने क्या किया' मर्म पूर्णतया अवगत कर लेती है। वह सामान्य नारी की भाँति द्वेष और ईर्षा से प्रेरित नहीं होती। वह अपने हृदय के

आराध्य की मनोकामना के मार्ग में रोड़ा बनकर नहीं आती। देवसेना असाधारण गम्भीरता और सहिष्णुता से अपने नारी हृदय की सहज दुर्बलताओं को अपने पैरों के नीचे दबाकर मानव जीवन के प्रति उच्च स्तर पर स्थित होती है। यही तो उसके चरित्र की महानता है। वह अपने हृदय की सहज दुर्बलताओं को अपनी सखी के समक्ष व्यक्त कर प्रेम के नाम पर केवल एक बार ही रोती है। देवसेना अपनी सखी से कहती—"मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है मचलता है, रूठता है, मैं उसे मनाती हूँ। आँखें प्रणय कलह उत्पन्न करती है, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है, कान कुछ सुनते ही नहीं। मैं सबको समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ। सखी! फिर भी मैं इसी झगड़ालू कुटुम्ब में गृहस्थी सम्हाल कर स्वस्थ होकर बैठती हूँ।" देवसेना के हृदय में प्रणय की प्रबलता का अनुभव उसी के शब्दों से हम कर सकते हैं—"कूलों में उफन कर बहने वाली नदी, तुमुल तरङ्ग, प्रचण्ड पवन और भयानक वर्षा।" नारी हृदय की प्रणय सम्बन्धी सामान्य अनुभूतियों के इस कथन में ही हम उसका मानवीय रूप पहिचान कर उसे ग्रहण कर सकते हैं अन्यथा वह अलौकिक गुणशील समन्वित होने से सर्वसाधारण की प्रतीति के परे हो जाती।

देवसेना अपने प्रणय भाव में गंभीर होते हुए भी जीवन से उदासीन अथवा तटस्थ भी नहीं होती। वह अपनी प्रणय-प्रतिद्वन्द्विनी विजया के प्रति कोई दुर्विचार अथवा दुर्व्यवहार नहीं करती। विजया के मार्ग को स्वच्छ करने के सिवा रोड़े नहीं बिछाती। देवसेना के भाई बन्धुवर्म्मा ने स्कन्दगुप्त को मालव का राज्य समर्पित किया। देवसेना अपनी दूरदर्शिता से यह अनुभव कर लेती है 'लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का ब्याह किया जारहा है।' विजया को देवसेना के प्रति यही भ्रम होता भी है कि 'उपकारों की ओट से उसके स्वर्ग को छिपा दिया गया।' देवसेना, विजया

के इस भ्रम को निर्मूल करने की प्राणपण से चेष्टा करती है। वह प्रपंचबुद्धि से कहती है—'परन्तु कापालिक ! एक और भी आशा मेरे हृदय में है। वह पूर्ण नहीं हुई है। मैं डरती नहीं हूँ, केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है। विजया के स्थान को मैं कदापि न ग्रहण करूँगी। उसे भ्रम है, यदि वह छूट जाता········।"

स्कन्द के प्रति देवसेना का प्रेम वासनायुक्त नहीं है। अवसर एवं अधिकार प्राप्त करके भी वह विषय वासनायुक्त प्रेम के स्थूल स्वरूप को अस्वीकार कर देती हैं। इसी में उसके दिव्य प्रेम भाव की अलौकिकता है। स्कन्दगुप्त स्वयं देवसेना को अपना ममत्व अर्पित कर उसके साथ एकान्तवास की कामना करता है। सामान्य नारी के लिए तो उसके प्रेमी द्वारा किया हुआ ऐसा प्रस्ताव परम सुखद है। देवसेना का प्रेम सामान्य कोटि का नहीं है। वह अपने प्रियतम के प्रणय-प्रस्ताव से मुग्ध हो प्रेम के सच्चे आदर्श को नहीं भूलती। देवसेना, स्कन्द के पुनः पुनः अनुरोध करने पर उसके सामने अपने प्रेम का यथार्थ स्वरूप खोलकर रख देती है—"आह ! कहना ही पड़ा स्कन्दगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिए, उसे कामना के भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिए। नाथ ! मैं आपकी ही हूँ मैंने अपने को दे दिया है, अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।" आदर्श सात्विक प्रेम में सम्पूर्ण आत्मसमर्पण एवं कामना हीन अनन्य अनुराग, यही दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। इस दृष्टि से देवसेना का प्रेम आदर्श एवं अलौकिक है।

देवसेना के चरित्र में सामान्य नारी जीवन की अन्य विशेषताएँ भी हैं। साहस, कर्त्तव्यपालन, देशसेवा आदि विविध सात्विक भावों से वह अलंकृत है। नाटक के प्रथम अंक में ही देश के मान और स्त्रियों की प्रतिष्ठा के लिए हम उसे विदेशियों के

आक्रमण काल में अन्तःपुर की रक्षा करते हुए देखते हैं। वह एक वीर क्षत्राणी बाला के अनुरूप शस्त्रचालन द्वारा अपने असीम साहस का परिचय देती हैं। स्कन्दगुप्त के अज्ञात हो जाने के पश्चात् जब देश में घोर अराजकता विशृंखलता एवं पराजयपूर्ण भावना फैल जाती है तब देवसेना अपनी देशभक्ति पूर्ण ओजस्विनी संगीत लहरी से मृतकों में भी उत्साहपूर्ण जीवन संचार करती है। वह साम्राज्य के बिखरे हुए रत्नों को एकत्र कर उनके लिए भीख माँगती है और उनका भरण पोषण करती है। मालव राजकुमारी देवसेना आपत्तिकाल में भिक्षा वृत्ति का अवलम्बन कर अपनी सहिष्णुता का त्याग नहीं करती। भिक्षा माँगते समय जनसमूह के अन्दर कुछ असभ्य मनुष्य उसके प्रति वासनायुक्त कलुषित कटाक्ष करते है। पर्णदत्त उत्तेजित हो जाता है। परन्तु देवसेना अपनी शीतल वाणी से उसे शान्त करती है—"क्या है बाबा! क्यों चिढ़ रहे हो? जाने दो, जिसने नहीं दिया उसने अपना कुछ तुम्हारा तो नहीं ले गया।" देवसेना का चरित्र, आदर्श एवं अलौकिक होते हुए भी व्यावहारिक जीवन में प्रतिष्ठित होने के कारण, परम लोकोपयोगी एवं मंगलमय है।

विजया

श्रेष्ठि-कन्या विजया हमें सर्वप्रथम अवन्ती दुर्ग में राजपरिवार के साथ विदेशियों के आक्रमण से अपने धन और जीवन की रक्षार्थ सशंकित और भयभीत सी दिखाई देती है। वह धन-कुबेर की पुत्री है अतः उसमें क्षत्राणियों के समान साहस और त्याग का सम्पूर्ण अभाव ही लक्षित होता है। वह कल्पना भी नहीं कर सकती कि स्त्रियाँ दुर्ग रक्षा का भार अपने ऊपर ले सकती हैं। वह भीमवर्मा से कहती है—'दुर्ग रक्षा का भार किसी सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिए।' विजया देवसेना के कहने पर भी आत्मरक्षार्थ छुरी तक अपने पास नहीं रखना चाहती है और जयमाला एवं देवसेना के वीरोचित साहस को देखकर 'उन्हें आग की चिनगारियाँ' कहती है।

लोभ और भय के अतिरिक्त विलास भावना, मिथ्याभिमान, ईर्षा और संदेह ऐश्वर्यवानों की सहज मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं। विजया मानों इनका पूँजीभूत रूप है। लोभ तो उसमें इतना है कि वह देश रक्षा के लिए अपनी अपार धनराशि का एक क्षुद्र अंश भी नहीं दे सकती और अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिए वह जयमाला से वीरत्व की मिथ्या दुहाई देती है—"किंतु इस प्रकार अर्थ देकर विजय खरीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है।"

विजया के चरित्र की सबसे महान दुर्बलता उसकी उत्कट विलास कामना है। वह रूप और महत्व की प्राप्ति के लिए इतस्ततः मारी मारी फिरती है और अन्त में इसी मृगतृष्णा में वह अपने प्राण भी गवाँ बैठती है। विजया सर्वप्रथम स्कन्दगुप्त के स्वस्थ शरीर, सुन्दर रूप एवं उच्च स्थिति से प्रभावित हो उसके प्रति आकृष्ट होती है। विजया के मन में स्कन्द के प्रति प्रणय वीरुध ज्योंही अंकुरित होता है कि वह स्कन्द की वैराग्य युक्त वार्तालाप को सुनकर

अपने संदेह की आंधी से उसे उखाड़ फेंकती है। "युवराज तो उदासीन है.........दुर्बलता इन्हें राज्य से हटा रही है।" विजया की प्रेम भावना में केवल रूप एवं ऐश्वर्य मोह है। अतः उसमें अस्थिरता और अविवेक का प्राधान्य है। वह स्कन्द के पश्चात चक्रपालित के 'प्रशस्त वक्ष और उदार मुख-मंडल' को देखकर एवं उसकी स्कन्द से वीर दर्प युक्त वार्तालाप सुनकर उसे ही अपने अनुरूप ठहराती है। चक्रपालित सम्भवतः उसकी पहुँच के सर्वथा बाहर है अथवा कुछ काल बाद ही भटार्क को प्राप्त कर लेने के कारण उसे उस ओर प्रयास करने का अवसर ही नहीं मिला इसीलिए चक्रपालित का वह फिर ध्यान नहीं करती। भटार्क के व्यक्तित्व में उसे स्वेच्छित वस्तु प्राप्त होती है। भटार्क रूपवान और बलिष्ट तो है ही साथ ही वह मगध का महाबलाधिकृत और विजया की भाँति महत्वाकांक्षी है। विजया इतनी मोहान्ध और विवेकशून्या है कि एक बार के साक्षात् में ही वह भटार्क को अपना पति वरण कर लेती है। वह उसके साथ बन्दिनी होकर मालव राजसभा में सबके समक्ष अपना निश्चय खुल्लमखुल्ला प्रकट कर देती है। विजया के जीवन में यह उसकी महान् भूल है। विजया जिस प्रकार प्रथम साक्षात्कार में स्कंद के व्यक्तित्व से प्रभावित हुई थी उसी प्रकार स्कंद के हृदय पर भी विजया के रूप और सौन्दर्य की छाप लग गई थी। स्कंद के सामने ही भटार्क को वरण कर विजया ने स्कंद के हृदय पर जो ठेस पहुँचाई वह उसके इन शब्दों से पूर्णतया व्यक्त है—"यह क्या किया तुमने विजया!" स्कंदगुप्त की गम्भीर प्रकृति का अवगाहन विजया की शक्ति के परे है। विजया पतन की ओर क्रमशः बढ़ती ही जाती है। मिथ्याभिमान और संदेह उसके हृदय में घेरा डाल लेते हैं और उन्हीं की प्रेरणा से वह अनेक कुत्सित कर्मों की ओर अग्रसर होती है। वह स्कंद की प्राप्ति के मार्ग में देवसेना को रोड़ा समझती है। संदेह ईर्षा में परिणित हो जाता है। विजया देवसेना से प्रतिशोध लेने के लिए

प्रपंचबुद्धि और भटार्क के साथ उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचती है। वह देवसेना को छल पूर्ण ढंग से स्मशान तक अपने साथ लाती है और प्रपंचबुद्धि के हाथ बलि देने के लिए सौंपकर अन्तर्ध्यान हो जाती है। स्कंदगुप्त की चेष्टा से विजया के प्राण तो बच जाते हैं किन्तु उसके हृदय में विजया के लिए कोई स्थान नहीं रहता। स्कन्द उसे पहिले 'सुख शर्वरी की संध्यातारा' के समान समझता था वही अब उसे उल्कापिंड प्रतीत होने लगती है! विजया अपने हाथों अपने पैर में कुल्हाड़ी मारती है। यह उसकी दूसरी महान् भूल है।

भटार्क को अपनाकर विजया कुछ समय तक कृत्रिम सुखों के द्वारा अपने मनोरंजन का विधान करती रहती है। भटार्क को पूर्ण आत्मसमर्पण कर वह विडम्बना पूर्ण विलासमय जीवन व्यतीत करने लगती है। भटार्क अनन्तदेवी के इशारों पर चलता था। वह पुरगुप्त को सम्राट बनाने के लिए प्रतिश्रुत था। अतः विजया भी अनन्तदेवी की चाटुकारिता एवं पुरगुप्त की विलास साधना में तत्पर होती है। कृत्रिम जीवन स्थायित्व हीन होता है। स्वल्पकाल में ही वास्तविकता का अनुभव हो जाने पर उस जीवन के प्रति क्षोभयुक्त विराग की जागृति स्वाभाविक है। विजया को शीघ्र ही वास्तविकता का पता चल जाता है और तब तो वह जिस वेग से उस कृत्रिम जीवन के प्रति उन्मुख हुई थी उससे दूने प्रवाह से वह पश्चात्पद होती है। उसे पुरगुप्त के विलास-जर्जर शरीर एवं दुर्बल मन से घृणा हो जाती है। वह पुरगुप्त की विलासिता का क्षुद्र उपकरण बनकर नहीं रहना चाहती। उसकी प्रतिहिंसा जागृत होती है और अब की बार वह अनन्तदेवी से उलझ पड़ती है। 'हृदय को छीन लेने वाले के प्रति हृतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के स्फोट से वीभत्स और प्रलय की अनल शिखा से लहरदार होती है।' विजया अनन्तदेवी को उसके प्रणय की डकैती के कारण भर्त्सनापूर्ण खुली चुनौती देती है "जो झूला ऊपर उठ रहा है, उसे एक ही झटके में पृथ्वी चूमने के लिए

बिखरा कर सकती हूँ। साम्राज्य का स्वप्न गला दबा कर भंग कर दिया जायगा। तुम्हारे समस्त दुरभिसन्धियों को एक फूँक में उड़ा दूँगी।" विजया की इन उक्तियों में उसके हृदय का थोथा क्षोभ ही है। वह अनन्तदेवी का किसी प्रकार का अनिष्ट करने में सर्वथा असमर्थ है। अतः अनन्तदेवी इसे फटकार कर दूर हटा देती है और विजया को वहाँ भी मुँह की खानी पड़ती है।

प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। वासना की आँधी में एक लम्बे अर्से तक सरपट दौड़ने के पश्चात् ठोकर लगने पर विजया रुकती है और अपने विगत जीवन का सिंहावलोकन करती है। वह अनुभव करती है 'मैं कहीं की न रही। इधर भयानक पिशाचों की लीला भूमि और उधर गम्भीर समुद्र।' वह अपने अन्तःकरण को टटोलने पर पाती है कि 'जिन्हें स्नेह के पुरस्कार की वांछा है उनकी भूल पर कठोर तिरस्कार, और जो पराए हैं उनके साथ दौड़ती हुई सहानुभूति ....'स्नेहमयी देवसेना का शंका से तिरस्कार किया, मिलते हुए स्वर्ग को घमण्ड से तुच्छ समझा, देवतुल्य स्कन्दगुप्त से विद्रोह किया।' विजया अपने हृदयमन्थन द्वारा इस तथ्यपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचती है—'स्वार्थपूर्ण मनुष्यों की प्रतारणा में पड़ कर खो दिया—इस लोक का सुख (और) उस लोक की शान्ति।' विजया के जीवन में यथार्थ विवेक का उदय सिर्फ इसी अवसर पर होता है। यह विवेकोच्छ्वास परिस्थितिजन्य है। संस्कारों की प्रबलता के कारण वह टिकाऊ नहीं होता। सर्वनाग के प्रभाव से विजया देश में कल्याण के शुभागमन के लिए कटिबद्ध होकर चलती है और मातृगुप्त को 'गली गली कोने कोने पर्यटन' करके भारतवासियों को जगाने के लिए प्रोत्साहित करती है।

विजया में संस्कारों की प्रबलता है। उसके संस्कार उसे स्वार्थ-परता, विलास एवं वैभवयुक्त जीवन की ओर निरंतर प्रेरित करने वाले हैं। संस्कारजन्य इन हीन भावनाओं के प्रवाह में उसका विवेक टिक

नहीं पाता है। वह फिर सौदागरी मनोवृत्ति से अपनी अतुल धनराशि द्वारा स्कन्दगुप्त को अपने लिए क्रय करना चाहती है। देवसेना सम्बन्धी उसकी भ्रान्ति अभी उसमें अवशिष्ट है। वह सोचती है—'देवसेना ने एक बार मूल्य देकर खरीदा था, परन्तु विजया भी एक बार वही करेगी।' विजया के हृदय में देशसेवा गौण होकर कामना पूर्ति की लालसा प्रधान हो जाती है।

विजया वासनायुक्त विचारों के भँवर में चक्कर काटती हुई स्कन्दगुप्त के पास फिर पहुँचने का साहस करती है। स्कन्दगुप्त के समक्ष वह 'भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत' कर अपने छिपे हुए दो रत्नगृहों से उसे मोल लेने का प्रपञ्च रचती है जिससे कि स्कंद उसके साथ 'बचे हुए जीवन का आनन्द' ले। विजया में मनुष्य को पहिचान कर उसके साथ व्यवहार करने की जरा भी शक्ति नहीं है। वह अपने रंगीन चश्मे के अन्दर से ही शेष सृष्टि को देखती है। तभी उसे पग पग पर ठोकरें खानी पड़ती हैं। वह जिस प्रकार देवसेना, भटार्क अनन्तदेवी आदि को समझने में भूल करती है उसी प्रकार वह स्कन्द को कभी भी नहीं पहिचान पाती। स्कंद 'सदृश त्यागी, देशसेवाव्रती एवं गम्भीर स्वभाववाले व्यक्ति के लिए विजया के प्रलोभनों में पड़ना असम्भव है। वही होता भी है। स्कन्द उसे फटकार देता है—'विजया! पिशाची! हट जा; नहीं जानती? मैंने आजीवन कौमार-व्रत की प्रतिज्ञा की है।' स्कन्दगुप्त के इस उत्तर से विजया की स्थिति निराशामय हो जाती है। अभी वह नैराश्य के अन्धकार से बाहर होने भी नहीं पाती कि भटार्क की भर्त्सनाएँ उसे विश्व के अनन्त अन्धकार—मृत्यु की गोद—में मुँह छिपा लेने के लिए विवश कर देती हैं और वह छुरी मार कर आत्महत्या कर लेती है। अतृप्तविलास-वासनामय जीवन द्वारा पूर्ण होता है और उसका अन्त जीवन की निश्चित अवधि के पूर्व हो जाना अस्वाभाविक नहीं है।

रामा

रामा 'स्कन्दगुप्त' नाटक की गौण स्त्री-पात्र है। आधिकारिक कथानक के प्रमुख पात्रों से उसका सम्बन्ध अधिक नहीं है। किन्तु नाटककार ने उसके चरित्र में भारतीय नारी जीवन की प्रेरक शक्ति एवं पवित्र कृतज्ञ भाव की जो प्रतिष्ठा की है, उससे वह चमत्कृत हो उठा है, और रामा के साधारण व्यक्तित्व में विशिष्टता लक्षित होती है।

रामा में पति को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने के लिए उत्कट अभिलाषा और तदनुरूप प्रयत्न है। वह अपने पति पर अधिकार पूर्ण प्रभाव भी रखती है तथा वह उसके आचरणों की कटु आलोचना भी करती है। उसका पति शर्वनाग भी उसके प्रभाव को स्वीकार करता है। वह रामा से कहता है—"मैं क्रोध से गरजते हुए सिंह की पूँछ उखाड़ सकता हूँ। किन्तु सिंहवाहिनी! तुम्हें देखकर मेरे देवता कूच कर जाते हैं।" रामा यद्यपि प्रकट में उसे कीड़े से भी अपदार्थ बताती है किन्तु उसके अन्तःकरण में पति के प्रति वास्तविक अनुराग की कमी नहीं है। वह सात्विक अनुराग से प्रेरित हो पति को जीवन में प्रगति देने के लिए उसके प्रति भर्त्सना पूर्ण शब्दों का व्यवहार करती है। शर्वनाग के प्रति उसका सच्चा सहानुभूति पूर्ण हृदय मालव की न्याय सभा में स्पष्टतया दिखाई पड़ता है। स्कन्द जब गम्भीर मुद्रा से शर्वनाग से कहता है—"ठहरो शर्व मैं तुम्हें आजीवन बन्दी बनाऊँगा" तब रामा उसका यथार्थ भाव न समझ कर तथा पति के अमंगल की कल्पना से प्रताड़ित होकर "आश्चर्य और दुःख से देखती है।"

रामा अपने पति को सन्मार्ग पर लाने के लिए कठोरता और कोमलता दोनों का अवलम्बन लेती है। यह जानकर कि उसका

पति देवकी की हत्या के लिए प्रतिश्रुत है वह पहिले तो उसकी कठोरतम भर्त्सना करती है—"......लोभ के वश मनुष्य से पशु होगया है। रक्त-पिपासु ! क्रूर-कर्मा मनुष्य ! कृतघ्नता की कीच का कीड़ा, नरक की दुर्गन्ध !........।" इस कठोर भर्त्सना के बाद भी जब वह उसे अपने संकल्पों पर दृढ़ देखती है तब वह अत्यन्त कोमलता और विनम्रता से उसके पैर पकड़कर प्रार्थना करती है और उसके विवेक को जागृत करने की चेष्टा करती है—"तुम्हारा यह झूठा सत्य है। ऐसी प्रतिज्ञाओं का पालन सत्य नहीं कहा जा सकता ; ऐसे धोखे के सत्य लेकर ही संसार में पाप और असत्य बढ़ते हैं। स्वामी ! मान जाओ !" वह अपने स्वामी को मनुष्य रूप में लाने के लिए अपना जीवन तक संकट में डाल देती है और उसी सती के पुण्य से उसका पति मृत्यु से ही केवल नहीं बचता वरन् वह मनुष्यत्व को प्राप्त हो जाता है।

रामा की स्वामिभक्ति पतिभक्ति से भी अधिक उत्कट और त्यागपूर्ण है। कृतज्ञता हृदय की सात्विक अनुभूति है। इसके समक्ष समस्त व्यक्तिगत स्वार्थ तुच्छ हो जाते हैं। जिसके प्रति यह अनुभूति होती है उसका मंगल आत्ममंगल से भी अधिक अभीप्सित होता है। उसकी रक्षा के लिए कृतज्ञ अपने प्रगाढ़ स्नेही एवं पूज्य की भी उपेक्षा कर देता है।

रामा के हृदय में अपनी स्वामिनी देवकी के प्रति कृतज्ञता की सात्विक अनुभूति है। वह शर्वनाग से कहती है—"मेरे रक्त के प्रत्येक परिमाणु में जिसकी कृपा की शक्ति है, जिसके स्नेह का आकर्षण है, उनके प्रतिकूल आचरण ! वह मेरा पति क्या, स्वयं ईश्वर भी हो, नहीं करने पावेगा।" रामा की अनुभूति इतनी तीव्र है कि वह अपने पति के प्रति पत्नी-मोह और कर्त्तव्य को भी भुलाकर देवकी से शर्वनाग की कुकर्म योजना को प्रकट कर देती है। इतना ही नहीं वह उक्त योजना को विफल करने के लिए प्राण-पण

में चेष्टा करती है। वह देवकी की हत्या के लिए तत्पर शर्वनाग की भर्त्सना कर उसे उस कार्य से विरत करने की चेष्टा ही नहीं करती अपितु वह स्वामिनी की रक्षार्थ आत्मबलि देने को भी प्रस्तुत हो जाती है। ज्योंहीं शर्वनाग खड्ग 'उठाता है कि रामा सामने आकर खड़ी हो जाती है।' वह हत्यारों को खुली चुनौती देती है—'पहिले मैं मरूँगी, तब महादेवी।' ममत्व के इस सम्पूर्ण त्याग की प्रतिष्ठा द्वारा नाटककार ने रामा के चरित्र को पवित्र गौरव से विभूषित कर दिया है और सामाजिकों की श्रद्धा और सहानुभूति का उसे चिर अधिकारी बना दिया है। नाटक के चतुर्थ अंक में एक बार पुनः जब चिर दुखिया रामा अपने पुत्रों की हूणों द्वारा हत्या के कारण बिलखते हुए अर्धविक्षिप्त दशा में आती है तो पत्थर हृदय भी पसीज उठते हैं।

कमला

कमला, भटार्क की मां है। किन्तु उसके हृदय में वात्सल्य की दुर्बलता नहीं है। स्नेहातिरेक में सामान्य कोटि की माताएं अपने पुत्रों का इष्ट और अनिष्ट विवेक पूर्वक न विचार कर उनके प्रत्येक कार्य्य का अनुमोदन करती हैं। कमला का वात्सल्य-प्रेम विवेक की दृढ़ भित्ति पर है। वह भटार्क के राष्ट्रद्रोही एवं अमानवीय कार्यों का तीव्र विरोध करती है। वह अपने पुत्र की वास्तविक कल्याण और पवित्र कीर्ति की अभिलाषा करती है। उसकी यह सद् आशा है कि 'पुत्र देश का सेवक होगा, म्लेच्छों से पददलित भारत भूमि का उद्धार करके मेरा कलंक धो डालेगा।' किन्तु जब भटार्क अपने कुत्सित कर्मों की अवतारणा से उसकी इस सदाशा पर कुठाराघात करता है तो वह मूक होकर नहीं बैठती, वरन् वह उसे सन्मार्ग पर लाने के लिये अपने महत्वपूर्ण पद के अनुरूप उसकी कदर्थना करती है—"तू राजकुल की शान्ति का प्रलय मेघ बन गया; और तू साम्राज्य के कुचक्रियों में से एक है। ओह! नीच! कृतघ्न!! कमला कलंकिनी हो सकती है परन्तु यह नीचता, कृतघ्नता उसके रक्त में नहीं।"

कमला का चरित्र नीतिकार की इस उक्ति को चरितार्थ करता है—'कुपुत्रो जायते क्वचिदपि कुमाता न भवति।' वह भटार्क के कुकृत्यों का विरोध ही नहीं करती वरन् उनका प्रतिकार करने के लिए वह उसे दण्डित कराने के लिए उद्यत भी दिखाई देती है। वह विजया से कहती है—"मेरी कोई न सुनेगा, नहीं तो मैं स्वयं इसे दण्डनायक को समर्पित कर देती।" इसके बाद ही जब गोविन्द गुप्त के हाथों भटार्क बन्दी हो जाता है तब वह सन्तोष प्रकट करती है—

"अच्छा हुआ, मैं तो स्वयं यही विचार करती थी।"

भटार्क के हृदय में मातृ-भक्ति की सच्ची भावना है। वह अपनी माता के ओजपूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित है। वह उसके उपदेशों और भर्त्सनाओं को ध्यान से सुनता है। कमला भी भटार्क की विचलित मानसिक दशा में, उसके कोमल मर्म को अपनी कठोर आलोचनात्मक वाणी के तीव्र कशाघातों से प्रताड़ित कर उसे सन्मार्ग की ओर उन्मुख करने में सफल होती है। भटार्क की आँखें खोलना कमला का ही काम है। वह अपनी वास्तविक दशा का अनुभव, माता के ही सदुपदेशों से करता है और तभी यह प्रतिज्ञा उसके हृदय से निकल कर मुखरित होती है—"आज से मैंने शस्त्र-त्याग किया। मैं इस संघर्ष से अलग हूँ, अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हें कष्ट न पहुँचाऊँगा।"

कमला के हृदय में असीम जीवन शक्ति है। वह भग्न-हृदयों में अपनी ओजस्विनी आशापूर्ण वाणी द्वारा उत्साह और धैर्य्य का संचार करती है। कुभा के तीव्र प्रवाह से निकलने पर स्कन्द अपने को अकेला पाने से जब अत्यंत निरुत्साहित और हताश होता है तब कमला ही उसे ढाढ़स बँधाती हुई कहती है—"कौन कहता है तुम अकेले हो ? समग्र संसार तुम्हारे साथ है। स्वानुभूति जागृत करो। .... उठो स्कन्द ! आसुरी वृत्तियों का नाश करो, सोने वालों को जगाओ, और रोने वालों को हँसाओ।" कमला की वाणी में वह ओजस्विता, वह तीव्र प्रेरणा शक्ति और वह अनुभूति की वास्तविकता है कि स्कन्द की मुमूर्ष अन्तःप्रवृत्तियाँ पुनः सजग हो जाती हैं और वह कठोर कर्म क्षेत्र में साहस पूर्वक कूद पड़ता है। कमला, उद्देश्य की महानता, चरित्र की पवित्रता और कर्तव्य की दृढ़ता से, आदर्श भारतीय माता के रूप में नाटक में चित्रित है।

देवकी

महादेवी देवकी राजमाता है। वृद्ध कुमारगुप्त की विषय-विह्वलता के कारण यद्यपि देवकी के आग्रहों का समुचित पालन नहीं होता किन्तु फिर भी वह सर्वथा उपेक्षिता नहीं है। भगवान चक्रपाणि के पूजन के लिए जो आग्रह पूर्ण संदेश वह मुद्गल के द्वारा सम्राट् के पास भेजती है उसका सर्वथा नकारात्मक उत्तर नहीं मिलता।

महादेवी देवकी स्वयं प्रकृति से उदार, धर्मपरायण, सत्यनिष्ठ, निर्भीक और कोमल हृदय वाली है। आततायी उन्हें त्रस्त नहीं कर सकते; विपत्तिकाल में वह भगवान की करुणा का ही अवलम्बन माँगती है; वह जघन्य अपराध करने वालों को क्षमादण्ड से प्रताड़ित कर उनकी आत्मा को स्ववश करने का संकल्प रखती है तथा आत्म मर्य्यादा एवं जीवनादर्शों की रक्षा के लिए प्राणों को विसर्जित करने में भी वह पश्चात्पद नहीं दिखाई पड़ती है। अनन्तदेवी और भटार्क जो उसके सामने उसके प्राण लेने के लिए खड़े हैं उनकी दर्पमय उक्तियों से किंचित भी विचलित न होकर वह दृढ़तापूर्वक उनकी प्रत्येक बात का मुँहतोड़ उत्तर देती है। अनन्तदेवी के यह पूछने पर कि—'क्यों देवकी ! राजसिंहासन लेने की स्पर्धा क्या हुई ?' वह (देवकी) उसको निर्भीकतापूर्वक उत्तर देती है—'परमात्मा की कृपा है कि मैं स्वामी के रक्त से कलुषित सिंहासन पर न बैठ सकी।' रामा अपनी स्वामिनी देवकी के स्थान पर आततायियों के हाथ आत्मबलि देने को प्रस्तुत हो जाती है, किन्तु देवकी उसकी इस बात को अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध पाकर उसका विरोध करती है और वह उन आततायियों के हाथों स्वयं मरने को प्रस्तुत हो जाती है। वह रामा

से कहती है—"शान्त हो रानी देवकी अपने रक्त के बदले और किसी का रक्त नहीं गिराना चाहती। चल रे! रक्त के प्यासे कुत्ते! चल, अपना काम कर।' "

देवकी घोर विपत्तिकाल में भी अपने असीम धैर्य का परिचय देती हुई 'भगवान की स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान' करती है। वह दुःख सुख दोनों में ही अपनी प्रार्थना विश्वम्भर के श्रीचरणों में भेजती है। यह उसकी परम ईश्वर परायणता और धार्मिक मनोवृत्ति का परिचायक है।

देवकी गम्भीर स्वभाव की है। यह गम्भीरता उसके राज-मातृत्व पद के अनुकूल है। वह जिस प्रकार घोर विपत्ति में विचलित नहीं होती उसी प्रकार वह वैभव एवं सफलता के क्षणिक जीवन में मदान्ध नहीं होती। उसकी सहज उदारता उसके चरित्र का भूषण है। मालव की राजसभा में उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचने वाले शर्वनाग, भटार्क आदि जब न्यायार्थ उसके और स्कन्द के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं तब वह स्कन्द से यही कामना करती है—"तुम्हारी माता की भी यह मङ्गलकामना है कि तुम्हारा शासन-दण्ड क्षमा के संकेत पर चला करे। आज मैं सबके लिए क्षमा-प्रार्थिनी हूँ।" निस्सन्देह देवकी की यह देवोपम उदारता विदेशियों को भी प्रभावित करने वाली है और धातुसेन भी उसकी मुक्तकण्ठ से सराहना किए विना नहीं रहता। वह कहता है—"आर्य्यनारी सती! तुम धन्य हो इसी गौरव से तुम्हारे देश का सिर ऊँचा रहेगा।" देवकी के प्रभाव से ही समस्त षड्यन्त्रकारी वन्धनमुक्त हो जाते हैं और शर्वनाग को तो उसी की सिफारिश से अन्तर्वेद का विषयपति बना दिया जाता है।

देवकी का अधिकांश जीवन दुःखमय ही है। वह जिस प्रकार प्रौढ़ावस्था में पति की विलास प्रियता और सपत्नी की कूट-नीति से पति सुख की पूर्ण अधिकारिणी नहीं रहती उसी प्रकार

पुत्र वियोग की असह्य वेदना में ही उसके प्राण जाते हैं। वह पति और पुत्र दोनों के पूर्ण सुखों से वञ्चित रहती है। पुत्र वियोग में उसका प्राणत्याग करना उसके असीम वात्सल्ययुक्त कोमल हृदय का परिचायक है। वास्तव में देवकी जैसी गम्भीर और उदार नारी सृष्टि 'स्कन्दगुप्त' नाटक में दूसरी नहीं है। वह अपने राजमातृत्व पद को अपने स्वभाव एवं आचरणों से सदैव अलंकृत करती हुई पुत्र-प्रेम में प्राणत्याग कर अयोध्याधिपति राजा दशरथ के समान अक्षय कीर्ति की भागी बनती है।

अजातशत्रु

नाटकीय क्षेत्र में अजातशत्रु का पदार्पण क्रूरता, कठोरता एवं हिंसक मनोवृत्तियों के साथ होता है। निर्बल एवं निरीह मृगों की, उसके चित्रक द्वारा, हिंसा में उसे विनोदपूर्ण आनन्द की अनुभूति होती है और उसके सम्भावित अभाव में वह आकुल प्रतीत होता है। 'क्यों रे लुब्धक! आज तू मृगशावक नहीं लाया? मेरा चित्रक अब किससे खेलेगा?' क्रूरता और कठोरता का परस्पर समवाय सम्बन्ध है। अजातशत्रु के चरित्र में ही उसका उदाहरण है। लुब्धक द्वारा मृगशावक न लाने का कारण प्रस्तुत किए जाने पर उसकी क्रूरता, कठोरता का अनुगमन करती है—'हाँ, तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूँ। समुद्र! ला तो कोड़ा।" कुमारावस्था की इस बीजरूप क्रूरता एवं कठोरता का विकास, अजातशत्रु के भावी चरित्र में पूर्णतया प्रदर्शित है। सम्राट् होने पर, काशी की प्रजा की विरोध वार्ता, उसकी सहज कठोर एवं क्रूर प्रकृति को प्रदीप्त करने के लिए, मानो ईंधन का काम करती है। वह तत्काल उबल पड़ता है—"क्या यह सच है समुद्र! मैं यह क्या सुन रहा हूँ! प्रजा भी ऐसा कहने का साहस कर सकती है? चींटी भी पंख लगाकर बाज के साथ उड़ना चाहती है। 'राज कर मैं न दूंगा—यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ ही वह भी क्यों न निकाल ली गई? काशी का दण्डनायक कौन मूर्ख है? तुमने उसी समय उसे बन्दी क्यों नहीं किया?" अजातशत्रु की उद्दण्ड क्रूर प्रकृति क्रमशः विकासशील है। पराजित एवं घायल प्रसेनजित् को अरक्षित अवस्था में पकड़ कर मार डालने की चेष्टा में वह अपनी पराकाष्ठा को पहुँची हुई दिखाई पड़ती है। उसकी इस प्रचण्ड क्रूरता, कठोरता एवं हिंसाप्रियता का अनुभव उसके उस कथन से होता

है जो प्रसेनजित् के न पाने पर वह मल्लिका से कहता है—"कहाँ गया ? मेरे क्रोध का कन्दुक, मेरी क्रूरता का खिलौना कहाँ गया ? रमणी ! शीघ्र बता—वह घमण्डी कोशल सम्राट् कहाँ गया ?"

क्रूर एवं कठोर होने के साथ ही अजातशत्रु दुर्विनीत भी है। वह अपनी ज्येष्ठा भगिनी, विमाता एवं पिता इन सबकी यथावसर अवज्ञा, उपेक्षा और अनादर करता रहता है। गुरुजनों के उपदेश-पूर्ण एवं कल्याणयुक्त वचनों में, उसे आत्मविरोध अनुभूत होता है। आरम्भ में ही, जब उसकी बहिन पद्मा उसे कोमल व्यवहार और शीतल आचरण का उपदेश करती है, तो वह उसे अनुचरों के लिये आज्ञाभङ्ग का प्रोत्साहन समझता है और बड़ी निर्ममतापूर्वक उसे फटकारता है—'यह तुम्हारी बढ़ावढ़ी मैं सहन नहीं कर सकता।' वह अपने पिता से राज्यशासन प्राप्त करने में भी विनय का प्रदर्शन नहीं करता है। राज्यभार ग्रहण कर लेने पर तो उसमें गुरुजनों के प्रति विनयाचरण के स्थान पर तिरस्कार एवं कपटाचरण के ही दर्शन होते हैं। बिम्बसार के समय में जो याचक धनधान्यादि से पुरस्कृत एवं सेवित होते थे उन्हें निराश कर लौटा दिया जाता है। इतना ही नहीं वरन् वह अपनी विमाता वासवी और पिता पर नियन्त्रण बैठाने का प्रस्ताव तक परिषद् से स्वीकार करवाता है और इसके अनुरूप व्यवहार करता है। अजातशत्रु के इस प्रकार क्रूर एवं दुर्विनीत चरित्र विकास में उसकी माता की शिक्षा का बड़ा प्रभाव है। विवेक के जाग्रत होने पर वह स्वयं इस बात का अनुभव करता है। वह अपने पिता से स्पष्ट रूप से कहता है—"नहीं पिता, मुझे भ्रम होगया था। मुझे अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी। मिला था केवल जङ्गलीपन की स्वतन्त्रता का अभिमान—अपने को विश्व भर से स्वतन्त्र जीव समझने का झूठा आत्म-सम्मान।" जीवन की अपरिपक्व अवस्था—किशोरवय में माता की शिक्षा एवं पार्श्ववर्तियों का प्रभाव जीवनदशा निर्दिष्ट करने में बहुत

सहायक होता है। दुर्भाग्य से अजातशत्रु को दोनों ही जीवन के आदर्शविरोधी मार्ग में प्रेरित करने वाले मिले हैं। छलना, देवदत्त और समुद्रदत्त आदि के द्वारा ही उसमें क्रूरता, कठोरता और अविनय आदि का वपन और विकास हुआ है।

अजातशत्रु स्वतन्त्र विचार एवं कर्तृत्व से विहीन है। उसकी माता छलना और देवदत्त अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का उसे सहज साधन बनाते हैं। छलना अजातशत्रु को भारतखण्ड का सम्राट् तो देखना चाहती है किन्तु साथ ही वह वीरप्रसूती होकर गर्व से उससे चरण वन्दन भी कराना चाहती है। देवदत्त गौतम के बढ़ते हुए प्रभाव को ईर्ष्यावश नष्ट करना चाहता है। इन दोनों ने ही अपनी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए अजातशत्रु को अपने कार्य्यसाधन का अस्त्र बनाया है। नाटक के नायक होने के नाते अजातशत्रु में स्वावलम्बन का अभाव एवं परमुखापेक्षिता का आरोप महान दोष है।

अजातशत्रु के चरित्र में संस्कार एवं सहवासजन्य कतिपय दुर्बलताओं के होते हुए भी कुछ स्वतन्त्र विशेषताएँ हैं। वह साहसी, पराक्रमी, और कार्य्यकुशल है तथा गुणों को यथार्थ रूप में परखने वाला है। वह अपने प्रचण्ड पराक्रम से प्रसेनजित् को पराजित करता है। आत्मसम्मान की भावना से वह प्रसेनजित् के कारागृह में बन्दी दशा में भी दीर्घकारायण को उसकी मुखरता का मुँहतोड़ उत्तर देता है—'मैं तुमको उत्तर नहीं देना चाहता। तुम्हारे महाराज से मेरी प्रतिद्वन्द्विता है—उनके सेवकों से नहीं।" इसी प्रसङ्ग में दीर्घकारायण को मर्य्यादा की सीमोल्लंघन करते देख वह उसे द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकारता है—"कारायण! यदि तुम्हें अपने बाहुबल पर भरोसा हो तो तुमको द्वन्द्वयुद्ध के लिए आह्वान करता हूँ।" अजात के इस कथन में उसका साहस भी प्रकट होता है।

अजात के हृदय में क्रूरता और कठोरता यद्यपि विशेष परिमाण में है किन्तु फिर भी सात्विक अँश का उसमें सर्वथा अभाव नहीं है। हृदय की इस सात्विकता के प्रभाव से ही वह अपने दर्प की चरमावस्था में मल्लिका की महिमामयी मूर्ति के आगे नतमस्तक हो जाता है और उसकी पीयूषवर्षिणी वाणी द्वारा अपने प्रज्वलित हृदय को शान्त करता है। वह मल्लिका के प्रभाव से अभिभूत होकर कहता है—"देवी आप कौन हैं? हृदय नम्र होकर आप ही आप प्रणाम करने को झुक रहा है। ऐसी पिघला देने वाली वाणी तो मैंने कभी नहीं सुनी।"

मल्लिका के व्यक्तित्व का प्रभाव अजात के हृदय पर गम्भीरता के साथ पड़ता है। किन्तु वह स्थायी नहीं रहता। युद्ध व्यापार से उसे विरक्ति होती है पर वह तितिक्षा का रूप नहीं ग्रहण करती। अजातशत्रु अपनी माता द्वारा युद्ध के लिए पुनः उत्तेजित किए जाने पर कहता है—"माँ! क्षमा हो। युद्ध में बड़ी भयानकता होती है; कितनी स्त्रियाँ अनाथ हो जाती हैं। सैनिक जीवन का महत्वमय चित्र न जाने किस षड़यन्त्र की मस्तिष्क की भयानक कल्पना है। ....युद्धस्थल का दृश्य बड़ा भीषण होता है।"

अजात युद्ध विरोधी अपनी इस धारणा पर स्थिर नहीं रह पाता। देवदत्त विरुद्धक, और छलना की कूटचातुरी द्वारा वह विवशता पूर्वक युद्ध कार्य्य में पुनः संलग्न होता है। वह इस त्रिगुट की मन्त्रणा को 'जैसी माता की आज्ञा' कहकर स्वीकार करता है। उसके इस कथन में मातृभक्ति ही अधिक व्यंजित होती है, युद्धेच्छा कम। प्रसेनजित् के सम्मुख द्वितीय युद्ध में पराजय का कारण प्रधान रूप से उसकी विरक्तिपूर्ण अन्यमनस्कता है।

अजात के जीवन का मधुरपक्ष बड़ा भावुक एवं हृदयग्राही है। जीवन के घोर संघर्ष तथा संकटपूर्ण अवसर में उसे अपने प्रेमालम्बन के दर्शन होते हैं। कोशलकुमारी वाजिरा के स्वरूप की कमनीयता

एवं सौन्दर्य की मधुरिमा हठात् उसके आन्दोलनपूर्ण हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। वह बरबस उससे पूछ ही बैठता है—"इस श्यामा रजनी में चन्द्रमा की सुकुमार किरण सी तुम कौन हो ? सुन्दरी, कई दिन मैंने देखा, मुझे भ्रम हुआ कि यह स्वप्न है। किन्तु नहीं, अब मुझे विश्वास हुआ है कि भगवान ने करुणा की मूर्ति मेरे लिए भेजी है और इस बन्दीगृह में भी कोई उसकी अप्रकट इच्छा कौशल कर रही है ?"

प्रेममयी वाजिरा के स्निग्ध प्रभाव से उसके हृदय की अवशिष्ट क्रूरता और कठोरता सदा के लिए विलीन हो जाती है। प्रेम के व्यापक क्षेत्र में उनका तिरोभाव हो जाता है। अजात इस बात को स्वतः स्वीकार करता है—"सुनता था कि प्रेम द्रोह को पराजित करता है। आज विश्वास भी होगया। तुम्हारे उदार प्रेम ने मेरे विद्रोही हृदय को विजित कर लिया........"। अजातशत्रु प्रेम की पावन वेदी पर अपना समस्त अहंभाव न्योछावर करता है। वह सच्चे हृदय से ही वाजिरा को विश्वास कराता है—'मैं अपने समेत उसे तुम्हें लौटा देता हूँ प्रिये! हम तुम अभिन्न हैं। यह जङ्गली हिरन इस स्वर्गीय सङ्गीत पर चौकड़ी भरना भूल गया है।" अजात का प्रेम वासनायुक्त नहीं है। चारित्रिक पवित्रता अजात के चरित्र का भूषण है। उसने जीवन में एकमात्र वाजिरा के गुण एवं स्वरूप पर मुग्ध हो उसके प्रेम का प्रतिदान किया है। इस पारस्परिक प्रेमभाव में अनन्यता है। उसका प्रभाव सात्विक एवं उभयपक्ष के लिये मङ्गलमय है।

प्रसेनजित् के द्वारा द्वितीय युद्ध में पराजयरूप गहरी ठोकर खाने से तथा मल्लिका और वाजिरा के करुणामय एवं प्रेमपूर्ण प्रभाव से अजात के समस्त सहवासजन्य दोषों का परिहार हो जाता है। वह कारागृह से मुक्त होते ही अपनी विमाता वासवी की गोद में ऐसी शीतलता एवं शान्ति का अनुभव करता है जैसी उसे पहिले

कभी नहीं अनुभूत हुई थी। वह स्वयं कहता है—"कौन ? विमाता नहीं, तुम मेरी माँ हो। माँ ! इतनी ठण्ढी गोद तो मेरी माँ की भी नहीं है। आज मैंने जननी की शीतलता का अनुभव किया।"

ग्लानि की अनुभूति आत्मसुधार का प्रथम सोपान है। अजात अपनी भूलों को मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर अपनी विमाता वासवी, वहिन पद्मा और पिता से क्षमा माँगता है और पुनः पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त कर सबका स्नेहभाजन बनता है। इस प्रकार नाटक के अन्त में हम अजात को राज्य, पत्नी एवं पुत्र लाभ तथा सबसे अधिक महत्वपूर्ण मनुष्यत्व लाभ करते हुए पाते हैं। नाटक का आदर्श करुणा, अहिंसा, विश्वमैत्री आदि के द्वारा कल्पित देवत्व की मनुष्यत्व में प्रतिष्ठा करना है। अजात के चरित्र में नाटक के अवसान में पूर्ण मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार अजात ही नाटक के भौतिक फल—राज्य, पुत्र दारादि—की प्राप्ति करता है तथा वही उसके आध्यात्मिक फल का भी सम्पूर्णतः भागी होता है। उसकी कुटिलता एवं क्रूरता दूर हो जाती है तथा वह प्रेम एवं विनय युक्त आचरणों द्वारा सबमें सौमनस्य सम्पादित करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण फल लाभ की दृष्टि से वही नाटक का नायक है।

बिम्बसार

बिम्बसार मगध का वृद्ध सम्राट् है। वह अपनी छोटी रानी छलना और पुत्र अजात के विद्रोह की आशङ्का से जीवनकाल में ही राज्यभार अपने पुत्र को सौंप कर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करता है। राज्यत्याग उसने आत्म प्रेरणा से नहीं किया है। एक ओर तो उसके सामने उसकी रानी छलना की धमकी है—"आपको कुणीक के युवराज्यभिषेक की घोषणा आज ही करनी पड़ेगी।" दूसरी ओर गौतम का उपदेश उसके सामने है—"तुम आज ही अजातशत्रु को युवराज बनादो और इस भीषण भोग से कुछ विश्राम लो" बिम्बसार इस प्रकार परिस्थिति की प्रेरणा से बाह्य-रूपेण राज्य त्याग तो अवश्य करता है किन्तु अधिकारों के प्रति उसे सर्वथा वैराग्य नहीं हो पाता है। वह समय समय पर दार्शनिक चिन्तन द्वारा इस राज्यमोह पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है। उसके हृदय में मोह और विवेकपूर्ण विरक्ति के बीच जब द्वन्द्व छिड़ता है तो उसमें अपर की ही विजय होती है। इसमें उसे बड़ी रानी वासवी की सहायता मिलती है। बिम्बसार मानों अपना मन समझाने के लिए ही एक स्थल पर कहता है—"पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असन्तोष नहीं रह जाता; क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है।" वासवी इस धारणा को दृढ़ करने के लिए तत्काल उसकी प्रोत्साहनयुक्त पुष्टि करती है—"मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि आपको अधिकार से वञ्चित होने का दुःख नहीं।"

बिम्बसार वानप्रस्थ ग्रहण करके भी सुख शान्ति से कालयापन नहीं कर पाता है। अपने पुत्र अजात के क्रूर व्यवहारों से

उसे क्षोभ होता है। वही आगे चलकर छलना के दम्भपूर्ण आचरणों से क्षणिक रोष का भी रूप ग्रहण कर लेता है। याचकों के निराश लौटने से बिम्बसार को वेदना की अनुभूति होती है। वानप्रस्थ आश्रम में भी उसकी स्वतन्त्रता पर अजात द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिबन्ध उसे क्षुब्ध कर देता है। फिर भी वह गम्भीर है और अपने विचारों पर दृढ़ रहता है। छलना जब मर्य्यादा की सीमा का उल्लंघन कर व्यङ्ग मिश्रित कटूक्तियों द्वारा बिम्बसार के समक्ष ही वासवी का मर्मच्छेद करने को उद्यत हो जाती है, तब वह अपने को संयमित नहीं रख पाता। वह आत्मगौरव से सचेष्ट हो छलना की भर्त्सना करता है—"छलना! मैंने राजदण्ड छोड़ दिया है; किन्तु मनुष्यता ने अभी मुझे नहीं परित्याग किया है। सहन की भी सीमा होती है। अधम नारी!—चली जा। तुझे लज्जा नहीं, बर्बर लिच्छिवी रक्त!" बिम्बसार का यह रोष मर्य्यादा सम्मत और सामयिक है।

राज्य-सत्ता के हस्तान्तरित होने का क्षोभ बिम्बसार के मानसिक जगत तक ही रहता है। व्यवहार क्षेत्र में वह अपना उससे विरोध व्यक्त नहीं करता। वासवी द्वारा आँचल में प्राप्त काशी को हस्तगत करने में न तो बिम्बसार की प्रेरणा ही है और न वह उसकी चेष्टा ही करता है। वह तो इस ओर अपनी विरक्ति और अन्य-मनस्कता ही प्रदर्शित करता है। काशी की आय को हाथ में लेने के लिए वासवी जब प्रस्ताव करती है तो बिम्बसार यही कहता है—"मुझे फिर उन्हीं झगड़ों में पड़ना होगा देवी, जिन्हें अभी छोड़ आया।" बिम्बसार के इस कथन में उसकी सच्ची निस्पृहता एवं अधिकार सुख से उदासीनता प्रकट होती है। बिम्बसार यदि चाहता तो अपने साधनों और पूर्व सम्बन्धों के बल से पुनः सत्ता प्राप्त कर सकता था। किन्तु उसने बाहरी सहायता की सदा उपेक्षा की और राष्ट्रीय झगड़े को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। जीवक, कौशाम्बी

और कोशल, मगध का समाचार पहुँचाने तथा सम्भवतः उनकी सहायता प्राप्त करने जाना चाहता है। बिम्बसार इसका समर्थन नहीं करता है। वह जीवक से सच्चे हृदय से कहता है—'नहीं। जीवक! मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं, अब वह राष्ट्रीय झगड़ा मुझे नहीं रुचता।'

विम्वसार को वैभवपूर्ण वाहरी आडम्वरों और उपाधियों से सच्ची विरक्ति है। वह 'सम्राट् न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल' होने की कामना करता है जिससे संसार की दृष्टि उस पर न पड़ सके। उसे अपने लिए सम्राट् शव्द का सम्बोधन भी अरुचिकर प्रतीत होता है। जीवक जव उसे सम्राट् कह कर सम्वोधित करता है, तव वह उसे डाँटता है—'चुप! यदि मेरा नाम न जानते हो तो मनुष्य कहकर पुकारो। वह भयानक सम्बोधन मुझे न चाहिए।' महत्व के प्रति इस अनन्य विराग के मूल में विम्वसार की गहरी जीवन अनुभूति है। गौतम का उपदेश तो एक ही वार उसे मिलता है। उसने राज्य-पद से पृथक होकर एक दर्शक की भाँति राज्य और वैभव के लिए चारों ओर द्वेष, कलह, युद्ध, हत्या, उत्पात आदि भीषण दृश्य देखे। उसका मानव हृदय सजग हुआ। वैभव और अधिकार—सुख समस्त उपद्रवों के मूल में उसे दिखाई पड़े। अतः उसकी विरक्ति क्रमशः गम्भीर और दृढ़ होकर पुष्ट होगई।

वस्तुतः विम्वसार ने जिस वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण किया—चाहे वह अनिच्छा और विवशता से ही क्यों न हो—उसने उसका व्यवहारों द्वारा यथाविधि पूर्णतया पालन और निर्वाह किया। इस दृष्टि से उसका चरित्र आदर्श एवं सराहनीय है।

नाटककार ने उसके जीवन का अन्त परिस्थितियों के आकस्मिक परिवर्तन और सुखानुभूति के अतिरेक से दिखाया है। यह पूर्ण मनोवैज्ञानिक है। राज्य त्याग के पश्चात विम्वसार अपनी

रानी छलना और पुत्र अजात के क्रूर एवं दुर्विनीत आचरणों से निरन्तर सन्तप्त हृदय रहता है। पारस्परिक विद्रोह और कलह उसे निरन्तर चिन्तनशील बनाकर उसके हृदय की शक्ति को दुर्बल कर देते हैं। घटनाओं के घात-प्रतिघात से जब छलना और अजात की प्रकृति में आमूल परिवर्तन होता है, तथा जब वे पुनः विनीत भाव से अपने अपराधों की क्षमा मांगते हुए उसके सामने आते हैं और साथ ही पद्मा जब अजात के विवाह और पुत्र-जन्म का सुखद समाचार उसे देती है तो उसका क्षीण हृदय बोझिल होकर सहसा बैठ जाता है। विम्बसार अपने अन्तिम कथन में इसी बात को कहता भी है—'इतना सुख एक साथ में सहन न कर सकूँगा! तुम सब विलम्ब करके आए।'

प्रसेनजित्

कोशलनरेश प्रसेनजित नाटक के प्रथम अङ्क में, अदूरदर्शी क्रोधी, एवं ईर्षालु प्रकृति का दिखाई पड़ता है। वह अजातशत्रु के 'क्षुद्र विप्लव से' उत्तेजित होकर अपने पुत्र विरुद्धक पर अकारण क्रोध प्रदर्शित करने लगता है और अपनी अदूरदर्शिता से उसे राष्ट्र का शत्रु बना लेता है। अमात्य ने यथार्थ रूप से उसके इस कार्य्य की अलोचना उसके सामने की—"किसी दूसरे के पुत्र का कलङ्कित कार्य्य सुनकर श्रीमान् उत्तेजित् हो, अपने पुत्र को दण्ड दें, यह तो श्रीमान् की प्रत्यक्ष निर्बलता है।"

प्रसेनजित् के चरित्र का जघन्यतम अपराध अपने प्रधान सेनापति बन्धुल से ईर्षा प्रेरित विश्वासघात है। बन्धुल स्वामिभक्त एवं रणकुशल पराक्रमी सेनानायक है। उसके पराक्रम से सर्वत्र विद्रोह का दमन हो जाता है। प्रसेनजित् वाह्यरूप से तो बन्धुल की सराहना करता है किन्तु सैनिक विजयों के साथ ही बन्धुल के बढ़ते हुये प्रभाव को देख कर वह सशंकित हो उठता है। वह बन्धुल की हत्या के लिए शैलेन्द्र नामधारी डाकू के पास गुप्त आज्ञा-पत्र भेजता है। बन्धुल के प्रति उसका विद्वेप और कपटाचरण उसकी अदूरदर्शिता तथा निम्नतम मनोवृत्तियों का परिचायक है। वह अपनी इन्हीं क्षुद्रताओं और अदूरदर्शिता के कारण अजात द्वारा युद्ध में पराजित होता है। जो राजा अपने सेनापति के साथ विश्वासघात करता है उसकी सेना का उसे सच्चे हृदय से सहयोग न देना स्वाभाविक ही है।

पापाचरण मनुष्य की मानसिक शान्ति का शोषण करता है। पाप का भय हृदय का मंथन करता हुआ स्वतः उबल उबल कर

बाहर आने लगता है। लोकभाषा में इसे ही कहते हैं कि 'पाप सर पर चढ़कर बोलता है।' प्रसेनजित् बन्धुल के प्रति किए कपटाचरण से अपनी मानसिक शान्ति खो देता है। पाप की प्रबल अनुभूति स्वतः ही व्यक्त होने लगती है। प्रसेन स्वयं मल्लिका से जाकर कहता है—"नहीं—मैंने अपराध किया है। सेनापति बन्धुल के प्रति मेरा हृदय शुद्ध नहीं था—इसलिए उनकी हत्या का पाप मुझे भी लगता है।" युद्ध में पराजय होने पर, पापाचरण की अनुभूति अधिक तीव्र हो जाती है। अपने कपटाचरण के प्रतिकार स्वरूप मल्लिका का निश्छल एवं क्षमापूर्ण व्यवहार तो प्रसेनजित् को लज्जा और आत्मग्लानि के अगाध कुण्ड में डाल देता है। वह अपने कुकर्म का प्रायश्चित्त करने मल्लिका की शरण में बड़े अधीर भाव से जाता है। प्रसेनजित मल्लिका के समक्ष मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता है—"देवि मैं स्वीकार करता हूँ कि महात्मा बन्धुल के साथ मैंने घोर अन्याय किया है। और आपने क्षमा करके मुझे कठोर दण्ड दिया है, हृदय में इसकी बड़ी ज्वाला है। देवि! एक अभिशाप भी दे दो, जिससे नरक की ज्वाला शान्त हो जाय और पापी प्राण निकलने में सुख पावे।" पापपूर्ण हृदय सदैव शङ्काकुल रहता है। बारम्बार क्षमा माँगने पर भी हृदय को सन्तोष नहीं होता। जीवन में अन्य प्रसङ्गों में भी उसका स्वल्प संकेत पापी हृदय को कँपा देता है। प्रसेनजित् के हृदय की यही दशा है। कोशल की राजसभा में मल्लिका के मुँह से यह निकलते ही—"मैं आज अपना सब बदला चुकाना चाहती हूँ, मेरा भी कुछ अभियोग है"—प्रसेनजित् का हृदय काँप जाता है। वह अधीर भाव से कहता है—'वह बड़ा भयानक है! देवि, उसे तो आप क्षमा कर चुकी हैं; अब।' प्रसेनजित् के उक्त कथन में भी उसकी मानसिक दुर्वलता व्यक्त होती है। वह अपने पापों को एकान्त में मल्लिका के समक्ष

स्वीकार कर उससे क्षमा तो माँग लेता है, किन्तु राजसभा के मध्य सार्वजनिक रूप से, उसकी कहानी सुनने से भागना चाहता है।

प्रसेनजित् में सत्ता का घमण्ड एवं अभिजात कुल का दम्भपूर्ण दर्प है। इसी की प्रेरणा से वह अपनी परिणीता भार्य्या का परित्याग करता है तथा औरस पुत्र को अधिकारच्युत करता है। परन्तु आत्म अपराध के निविड़तम अन्धकार में उसका अहंभाव और दर्प भी विलीन हो जाते हैं। वह अपना स्वत्व खोकर मल्लिका और गौतम के आदेशानुसार परित्यक्ता पत्नी और पुत्र को पुनः स्वीकार करने को बाध्य होता है।

प्रसेनजित् अपनी सहोदरा वासवी के प्रति सच्चे हृदय से अनुराग एवं सहानुभूति रखता है। वह अजात की अनधिकार पूर्ण चेष्टाओं का समाचार सुनकर आत्मप्रेरणा से अपनी बहिन और बहनोई के निर्वाह के लिए काशी का राजस्व उन्हें प्रदान करने की आज्ञा देता है। वह वासवी के अनुरोध से अजात को तत्काल कारागृह से मुक्त करता है और अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह अजात से कर देता है।

विरुद्धक

विरुद्धक कोशल का राजकुमार है। उसका पिता प्रसेन-जित् उग्र एवं क्रोधी स्वभाव का है। विरुद्धक की माता शक्तिमती दासी पुत्री है। अतः वह युवराज पद से वञ्चित कर दिया जाता है। विरुद्धक निर्भीक, साहसी, कुटिल एवं कार्य्यकुशल है। वह अपने पिता के दुर्व्यवहार से पीड़ित होकर विद्रोही बन जाता है।

विरुद्धक के राष्ट्रद्रोह के मूल में उसकी माता की प्रेरणा भी है। विरुद्धक अपने पिता की प्रतारणाओं से उत्तेजित हो विद्रोह करने का विचार करता है। किन्तु साथ ही वञ्चित प्रणय की पीड़ा उसे उत्साहहीन कर देती है। वह अपनी स्वगतोक्ति में इसी बात को व्यक्त करता है—"घोर अपमान! अनादर की पराकाष्ठा और तिरस्कार का भैरवनाद!! यह असहनीय है। धिक्कारपूर्ण कोशलदेश की सीमा कभी की मेरी आँखों से दूर हो जाती, किन्तु, मेरे जीवन का विकाससूत्र एक बड़े कोमल कुसुम के साथ बँध गया है। ......" शक्तिमती विरुद्धक को इसी मानसिक दुर्बलता के गर्त से निकाल कर 'महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्नि-कुण्ड में कूदने को प्रस्तुत' करती है। उसकी जीवन दिशा यहीं परिवर्तित होती है।

धिक्कारपूर्ण कोशल की सीमा से निकल कर विरुद्धक साहसिक हो जाता है। वह अपनी प्रचण्ड शक्तियों के विकास से साम्राज्य में आतङ्क छा देता है। वह शैलेन्द्र नामधारी डाकू बन कर उचिता-नुचित का विचार छोड़ देता है। हत्या और लूट द्वारा वह शक्ति संग्रह करता है। कोशलनरेश प्रसेनजित् स्वयं उसकी शक्ति एवं पराक्रम से प्रभावित होकर अपने सेनापति बन्धुल की हत्या कराने के लिए उसका आश्रय लेते हैं। विरुद्धक चाणक्य की भाँति अपनी कार्य्यसिद्धि देखता है साधन चाहे कैसे ही हों। वह अपनी प्रगति

के मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध नहीं सहन कर सकता चाहे वह—कोमल हो या कठोर। वन्धुल की वह छलपूर्वक हत्या करता है। श्यामा को अपने 'भावी कार्य्यक्रम में विघ्नस्वरूप' पहचान कर ही उसकी हत्या करता है। वह अजात के पास एकाकी पहुँच कर कुशलतापूर्वक उसका विश्वासपात्र बनता है। पर्य्याप्त साधनों के अभाव से, तथा सहयोगी अजातशत्रु की दुर्बलता के कारण ही वह लक्ष्यप्राप्ति नहीं कर पाता। अन्यथा पराक्रम, साहस निर्भीकता और कुशलता उसमें ये ऐसी वैयक्तिक विशेषताएँ हैं जिनके द्वारा वह महत्वपूर्ण पद को प्राप्त करने में समर्थ है।

विरुद्धक में आत्मसम्मान की भावना बड़ी प्रबल है। आत्म-गौरव को धक्का लगने पर ही वह अपने पिता का राज्य त्याग देता है। स्वावलम्ब के अभाव में आत्मसम्मान की यथेष्ट रक्षा नहीं हो सकती। विरुद्धक आत्मनिर्भरता के आधार पर ही बन्धुल के प्रलोभन ठुकरा देता है। "मित्र! बन्धुल! मैं तो तिरस्कृत राज-सन्तान हूँ। फिर अपमान सहकर, चाहे वह पिता का सिंहासन क्यों न हो, मुझे रुचिकर नहीं।" × × × × "मैं दया से दिया हुआ दान नहीं चाहता। मुझे तो अधिकार चाहिए, स्वत्व चाहिए।" × × ×. "मैं बाहुबल से उपार्जन करूँगा। मृगया करूँगा। क्षत्रिय कुमार हूँ, चिन्ता क्या है।" उसके इन कथनों से स्वाभिमान और आत्मनिर्भरता पूर्णतया प्रकट होती है।

विरुद्धक के चरित्र पर राष्ट्रद्रोह कुटिलता, विश्वासघात और क्रूरता के आरोप लगाए जाते हैं। राष्ट्रद्रोह, वह परिस्थितियों की प्रेरणा से करता है। नाटककार ने इसका परिहार बड़ी सुन्दरता से मल्लिका द्वारा कराया है—"राजन्, विद्रोही बनाने का कारण भी आप ही हैं। बनाने पर विरुद्धक राष्ट्र का एक सच्चा शुभचिन्तक हो सकता था।" वन्धुल और श्यामा के प्रति विश्वासघात भी वह परिस्थितियों की प्रेरणा से ही करता है। वन्धुल क व्यक्तित्व

से उसे मोह है। तभी तो वह निर्भीकतापूर्वक उससे एकान्त में मिलकर उसे कोशल नरेश की दुर्नीति समझाने की चेष्टा करता है। बन्धुल जब उसकी बातों को नहीं मानता तो विरुद्धक को उसे अपने मार्ग से हटाना श्रेयस्कर है। तत्कालीन संस्कृति एवं युद्ध नियमों के अनुसार किसी की छलपूर्वक हत्या करना भले ही दोष हो पर साहसिक होने के नाते उसने बन्धुल के वध के लिए जिस उपाय का भी अवलम्बन किया उसके लिए उसके साहस और कौशल की सराहना की जायगी।

विरुद्धक में अन्य विशेषताओं के होते हुए भी उसका प्रणय चित्र बहुत ही मलिन और दोषपूर्ण है। उसमें नारी हृदय को पहिचानने की क्षमता नहीं है। वह जीवन के प्रभातकाल में मल्लिका को अपना हृदय देता है। मल्लिका का उसकी ओर उस समय कैसा भाव था यह नाटक से ज्ञात नहीं होता। अतः उसका प्रथम प्रेम एकाङ्गी है। प्रसेनजित् की इच्छा से मल्लिका का विवाह विरुद्धक से न होकर बन्धुल से होता है। विरुद्धक इसे ही अपने जीवन की भारी पराजय मान कर हताश हो बैठता है। आगे चल कर वह बन्धुल की छलपूर्वक हत्या करते समय यह जरा देर के लिए भी नहीं सोचता कि मल्लिका, जिसे वह कभी हृदय से प्यार करता था, उसके इस कार्य्य से कितना मर्माहत होगी। सच्चे प्रेमी के नाते उसे मल्लिका के हृदय की रक्षा करनी चाहिए थी। उदयन के हाथों घायल होने पर मल्लिका जब उसे अपनी कुटी में लाती है और सुश्रूषा द्वारा उसे स्वस्थ करती है तब भी वह वासनामय मलिन दृष्टि से ही उसके सेवाकार्यों की परख करता है। श्यामा के प्रति वह जो जघन्य अपराध करता है वह प्रणय-क्षेत्र में अक्षम्य है तथा उसके चरित्र पर महान कलङ्करूप है। कभी तो वह उसके सौन्दर्य में मग्न होकर कहता है—'श्यामा ! तुम्हारे सौन्दर्य ने तो मुझे भुला दिया है कि मैं डाकू था।' उसके साथ विश्वासघात न करने के लिए वह सिद्धान्त की दुहाई देता है—

'विश्वास करने वाले के साथ डाकू भी ऐसा नहीं करते, उनका भी एक सिद्धान्त होता है।' किन्तु दूसरे ही क्षण वह उसका धन अपहृत कर उसका गला घोंट देता है। विरुद्धक की श्यामा के प्रति यह धारणा कि 'विश्वास के बल पर ही इसने (श्यामा ने) समुद्रदत्त के प्राण लिए; यह नागिन हैं, पलटते देर नहीं" बड़ी ही पोच और विवेकशून्य है। समुद्रदत्त के प्राण, श्यामा ने, विरुद्धक को मृत्यु-दण्ड से बचाने के लिए लिवाए। उसमें उसका कोई निजी स्वार्थ नहीं है। विरुद्धक उसके इसी कार्य्य को उसकी हत्या का व्याज बनाता है। यह उसकी कोरी हृदय हीनता है। श्यामा उसे डाकू जान कर ही उससे प्रेम करती है। किन्तु वह उसके प्रेम का प्रतिदान करने के स्थान पर उसे वेश्या समझ कर उसके साथ क्रूरतापूर्ण विश्वासघात करता है। विरुद्धक को, क्षमा माँगने पर मल्लिका देवी की सहायता से, पिता का स्नेह, युवराज पद और राजकीय सम्मान पुनः प्राप्त होते हैं किन्तु अपने कर्मों से खोया हुआ प्रणय अधिकार उसे नहीं प्राप्त होता है। यह उपयुक्त साहित्यिक न्याय है।

उद्यन

कौशाम्बी-नरेश उदयन का चरित्र, घटना और व्यापार की दृष्टि से नाटक के अन्तर्गत बहुत स्वल्प मात्रा में है। वह सुरा, संगीत और सुन्दरियों के बीच कालयापन करता है। उसमें स्वतंत्र विचार शक्ति का अभाव है और अपने विचारों पर दृढ़ रहने की क्षमता भी कम है। विलास प्रिय व्यक्तियों की प्रकृति में यह दुर्बलता स्वाभाविक है।

उदयन मागन्धी के रूप और यौवन पर आसक्त है। वह मागन्धी के प्रभावशाली रूप के चरणों पर अपना ममत्व तक लुटा देता है। मागन्धी के पास आने पर उसका समस्त ज्ञान एवं सद्विचार विलीन हो जाते हैं। मदिरा निषेध पर गौतम के उपदेश से प्रभावित होकर वह उसे न पीने का निश्चय करता है। मागन्धी के समक्ष उदयन अपने इस मनोविचार को व्यक्त भी करता है। परन्तु मागन्धी के प्रेमपूर्ण अनुरोध से वह अपने इस सत्संकल्प का परित्याग कर देता है। मागन्धी जब उससे कहती है—"मैं प्रार्थना करती हूँ, अपने हृदय को इस हाला से तृप्त कीजिए;" उदयन तत्काल उसे स्वीकार करता है—"उठो मागन्धी, उठो! मुझे अपने हाथों से अपना प्रेमपूर्ण पात्र शीघ्र पिलाओ, फिर कोई बात होगी।"

प्रायः कामुक एवं विलासी पुरुषों में विवेक का अभाव रहता है। वे सद् एवं असद् तथा शत्रु और मित्र में भेद नहीं कर पाते हैं। मागन्धी कुटिल कौशल द्वारा पद्मावती के विरुद्ध उदयन को उत्तेजित करती है। हस्तिस्कंध वीणा के अन्दर से निकले साँप के बच्चे को देख कर, मागन्धी के कथनानुसार, वह यह विश्वास कर लेता है कि पद्मावती ने उसके प्राण लेने का षड़यन्त्र किया। वह पद्मावती के प्राणों का शत्रु बन जाता है और उसके प्रत्येक

कार्य्य को सन्देह की दृष्टि से देखता है। पद्मावती को झरोखे से गौतम की वन्दना करते देख उदयन समझता है कि गौतम के प्रति पद्मा का वासनामय प्रेम है—"पापीयसी, देख ले, यह तेरे, हृदय का विष—तेरी वासना का निष्कर्ष जा रहा है। इसीलिए न यह नया झरोखा बना है।" वह उत्तेजित होकर उसकी हत्या करना चाहता है। 'सती का तेज और सत्य का शासन' विजयी होता है। खड्गयुक्त हस्त ऊपर उठकर रह जाता है, नीचे आता ही नहीं, मागन्धी के षड्यन्त्र का रहस्य भी खुल जाता है। उदयन को अपनी भूल ज्ञात हो जाती है। वह पद्मावती के सामने घुटने टेक कर अपने अपराधों की क्षमा मांगता है।

नाटक में उदयन का पराक्रमपूर्ण व्यापार प्रदर्शित नहीं है। उसकी अन्य पात्रों द्वारा संक्षिप्त सूचना मात्र है। वह कोशल के साथ मिलकर मगध पर आक्रमण करता है और युद्ध में विरुद्धक को घायल करता है।

उदयन का चरित्र नाटक की प्रधान कथावस्तु से विशेष सम्बन्धित नहीं है। इसीसे सम्भवतः उसका विस्तार कम है। उदयन और प्रसेनजित् के चरित्र प्रकारान्तर से बिम्बसार के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। उदयन भावुक और विलासी है। प्रसेनजित्त क्रोधी और ईर्षालु है। दोनों ही अपनी दूषित चित्तवृत्तियों के प्रभाव से अपने हृदय की शान्ति खो देते हैं और पराभव प्राप्त करते हैं। उदयन पद्मावती के सामने घुटने टेकता है और प्रसेनजित् मल्लिका के समक्ष अनेक बार गिड़गिड़ाता है। बिम्बसार अपने आश्रम-धर्म के अनुसार विरक्त एवं विवेकयुक्त है। अतः उसे अपने किसी कर्म के लिए आत्मग्लानि और लज्जा नहीं अनुभव करनी पड़ती है। वरन् बिम्बसार से द्वेष करने वाले—उसके स्त्री और पुत्र—ही उसके सामने घुटने टेक कर क्षमा माँगते हैं। 'प्रसाद'

ने उदयन, प्रसेनजित् और बिम्बसार के व्यक्तित्व में क्रमशः काम, क्रोध और विवेकयुक्त वैराग्य के भावों का मानो साकार रूप प्रदान किया है। साथ ही आदर्श की दृष्टि से बिम्बसार के व्यक्तित्व की महत्ता प्रकट कर उन्होंने काम और क्रोध के विरोध में विवेक-पूर्ण वैराग्य मनोवृत्ति की गौरवपूर्ण एवं सजीव झाँकी प्रस्तुत की है। नाटककार अपने इस प्रयास में पूर्ण सफल है।

गौतम

गौतम 'अजातशत्रु' नाटक में महात्मा पात्र हैं। वे नाटकीय आदर्श करुणा, अहिंसा एवं विश्वमैत्री के साकार रूप हैं। अपनी शीतल एवं मधुर वाणी से, तथा पवित्र और मनोहर आचरणों द्वारा वे उक्त आदर्शों का सर्वत्र प्रचार करते हैं।

गौतम का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। उनका समादर सर्वत्र होता है। वे देश के कोने कोने में घूम घूम कर आन्तरिक अव्यवस्थाओं को दूर करने का सतत प्रयत्न करते हैं। वे विश्व में तटस्थ भाव से विचरण करते हैं, किन्तु सांसारिक झगड़ों में, न्याय का पक्ष विजयी हो और समस्त सदाचारों की नींव संसार में स्थापित हो, इसी शुभेच्छा से प्रेरित होकर, वे उसमें भाग लेते हैं। गौतम मगध में बिम्बसार और अजातशत्रु के बीच संभावित संघर्ष को रोकते हैं; कोशल में वे प्रसेनजित् को सन्मार्ग प्रदर्शित करते हैं। प्रसेनजित् गौतम के प्रभाव से अपनी परित्यक्ता पत्नी शक्तिमती और विद्रोही पुत्र विरुद्धक को पुनः स्वीकार करता है। विरुद्धक राष्ट्रद्रोही से राष्ट्र का सच्चा शुभचिन्तक बन जाता है। कौशाम्बी में उदयन आदि को सदुपदेश देकर वे उनकी वासनामयी प्रवृत्तियों को दूर करते हैं।

गौतम के उपदेश हृदयग्राही हैं। वे जो बात कहते हैं वह अवसर के अनुकूल होती है। उनके उपदेशों में प्रतिपादित सिद्धान्त दार्शनिक होते हुए भी व्यावहारिक होते हैं। बिम्बसार छलना के कुटिल व्यवहार से क्षुब्ध हो कर उससे व्यङ्ग भाव से कहते हैं— "हाँ छलने! तुम जा सकती हो। किन्तु कुणीक को न ले जाना— क्योंकि तुम्हारा मार्ग टेढ़ा है।"

गौतम बिम्बसार की इसी बात को लेकर उसे विश्वमैत्री का मार्ग दिखाते हैं—"शीतल वाणी—मधुर व्यवहार से क्या वन्य

पशु भी वश में नहीं हो जाते ? राजन् संसार भर के उपद्रवों का मूल व्यङ्ग है। वाक्संयम विश्वमैत्री की पहिली सीढ़ी है।"

गौतम कोरे उपदेशक मात्र नहीं हैं। समाज में उनकी प्रभविष्णुता उनके व्यक्तिगत आचरणों द्वारा है। वे 'शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से सत्कर्म' करने के समर्थक हैं और अपने व्यक्तिगत आचरणों द्वारा उसे चरितार्थ करते हैं। मागन्धी गौतम को अपने विलास-पाश में आबद्ध करना चाहती है। इसमें असफल होने पर वह कौशाम्बी में उनके विरुद्ध षड़यन्त्र करती है। किन्तु जब उसी मागन्धी का विरुद्धक गला घोट कर उसे मृतप्राय दशा में छोड़ जाता है, तब गौतम, उसकी शुश्रूषा कर उसे पुनः जीवित करते हैं। देवदत्त, गौतम से, आजीवन शत्रुता का व्यवहार करता रहता है। मगध में उनके प्रभाव को रोकने के लिए वह अनेक षड़यन्त्र करता है। अन्ततोगत्वा वह गौतम का प्राण लेने को उद्यत होता है। भिक्षुओं ने तथागत से कहा—'देवदत्त आपका प्राण लेने आ रहा है, उसे रोकना चाहिए।' गौतम अविचलित भाव से उत्तर देते हैं—"घबराओ नहीं, देवदत्त मेरा कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता। वह स्वयं मेरे पास नहीं आ सकता; उसमें इतनी शक्ति नहीं क्योंकि उसमें द्वेष है।' वास्तव में गौतम के आत्मबल के सम्मुख देवदत्त का पशुबल पराजित होता है। देवदत्त मार्ग में ही ग्राहग्रहीत हो काल कवलित होता है।

गौतम का प्रभाव व्यापक है। राजा और रङ्क, स्त्री और पुरुष—सभी उनके परदुःखकातरता—प्रेरित अपूर्व राज्य-त्याग, एवं आकर्षक व्यक्तित्व से, प्रभावित हैं। उनका 'शान्त मुखमण्डल स्निग्ध गम्भीर दृष्टि' सभी को अपनी ओर आकर्षित करती है। बिम्बसार, उदयन, प्रसेनजित् सदृश नरेश उनकी पाद वन्दना करते हैं और उनके उपदेश-पूर्ण आदेशों को ग्रहण कर अपना जीवन-मार्ग निर्धारित करते हैं। गौतम के विरोधी भी अपना विरोध

भाव भूल कर उनकी शरण में आते हैं और उनका उपदेश ग्रहण कर अपना जीवन सफल करते हैं। अजात शत्रु, छलना, मागन्धी, शक्तिमती, विरुद्धक आदि गौतम की शीतल वाणी और शान्तिमय व्यवहारों से उनके प्रति अपना द्वेषभाव भूल जाते हैं। गौतम के मूल सिद्धान्त अहिंसा करुणा और विश्वमैत्री सार्वभौमिक हैं। वह इन्हीं

सच्चे

देवदत्त

देवदत्त 'अजातशत्रु' नाटक का खल पात्र है। वह गौतम का विरोधी है। देवदत्त गौतम के प्रति विरोध भाव से ही प्रेरित होकर राजनीति में भाग लेता है। वह अत्यन्त कुटिल और कुचक्री है; साथ ही वह अपनी कार्य्यसिद्धि के लिए बड़ा व्यवहार कुशल भी है। वह छलना और अजातशत्रु के हृदय में विम्बसार और वासवी के प्रति द्वेष और द्रोह की सृष्टि करता है और मगध के राज परिवार में आन्तरिक कलह की ज्वाला प्रज्वलित करता है। वह आत्मकौशल से मगध परिषद् की प्रधानता ग्रहण करता है और वासवी और विम्बसार पर प्रतिबन्ध बैठाने वाले प्रस्ताव को स्वीकार करवा लेता है। देवदत्त का कार्य्यक्षेत्र प्रधानतः मगध है। वह महत्वाकांक्षी भी है।

देवदत्त बौद्धसंघ में सम्मिलित होते हुए भी गौतम से विरोध वश उससे पृथक् हो जाता है। गौतम से उसका विरोध धार्मिक क्षेत्र में नहीं है। वह उनकी प्रभविष्णुता से द्वेष करता है; और अपनी महत्वाकांक्षावश वह स्वयं समस्त जम्बू द्वीप का, धर्मगुरु के रूप में शासक बनना चाहता है। द्वेषवश वह गौतम की प्रशंसा कभी नहीं सुन सकता है। अजातशत्रु की राज्य प्राप्ति के विषय में समुद्रदत्त उससे कहता है—'गौतम यदि न चाहते तो यह काम सरलता से न हो सकता।' देवदत्त तत्काल इसका प्रतिकार करता है—"फिर उसी ढकोसले वाले ढोंगी की प्रशंसा! अरे समुद्र, यदि मैं इसकी चेष्टा न करता तो यह सब कुछ न होता।" देवदत्त लोकोपकार के आवरण में आत्मोन्नति का अभिलाषी है और उसके लिए वह प्रत्येक वैध एवं अवैध उपाय का आश्रय ग्रहण करता है। अजातशत्रु उसके कार्य्य-साधन का अस्त्र है। वह उसे विद्रोह

युद्ध और हिंसा आदि के लिए सदैव उत्तेजित करता रहता है। उसका विश्वास है कि अजात को अपनी योजनाओं से शक्तिशाली बना देने से वह उसका सदैव अनुगामी रहेगा और गौतम का प्रभाव मगध पर न पड़ने पाएगा।

हिंसा और क्रूरता आदि का उत्कर्ष क्षणिक होता है। उनके द्वारा शाश्वत सफलता नहीं प्राप्त की जा सकती। अजातशत्रु केवल एक बार युद्ध में विजयी होता है। बाद में पराजित होकर वह बन्दी हो जाता है। प्रथम युद्ध में विजयी होने पर भी देवी मल्लिका के प्रभाव से अजात में हृदय परिवर्तन हो जाता है अतः वह देवदत्त का उपयुक्त साधन नहीं रह जाता। दूसरे युद्ध में अजात के पराजित होने पर उसके द्वारा कार्य्य साधन की देवदत्त की समस्त अभिलाषाएँ दूर हो जाती हैं। अतः वह स्वयं प्रत्यक्ष रूप से गौतम पर प्रहार कर उनका प्राण लेने को उद्यत होता है। उसके द्वेष भाव का यह चरम स्वरूप है। देवदत्त को इसमें भी असफलता होती है क्योंकि गौतम के पास पहुँचने के पूर्व ही वह सरोवर में डूब कर मर जाता है।

देवदत्त का चरित्र असद्वृत्तियों से आक्रान्त होने के कारण सद्गुण सम्पन्न गौतम के चरित्रोत्कर्ष प्रदर्शन में पूर्ण सहायक है। उसका पापमय चरित्र, गौतम के पुण्यमय चरित्र के लिए कसौटी-रूप है। खल वृत्तियों का उदय, उनका विकास एवं तज्जन्य जीवन परिणिति देवदत्त के चरित्र में बड़ी स्वाभाविकता से प्रदर्शित है।

वन्धुल

वन्धुल कोशल का प्रधान सेनापति है। वह अत्यन्त पराक्रमी रणकुशल एवं स्वामिभक्त है। अपने पराक्रम और रणचातुर्य्य से पावा सरोवर की रक्षा करने वाले पाँच सौ मल्लों को वह अकेले ही निरस्त्र कर पराजित करता है। उसके अधिनायकत्व में कोशल के समस्त विद्रोही पराजित होते हैं और कोशल के सीमान्त पर 'शान्ति स्वयं पहरा' देने लगती।

वन्धुल वीर होने के साथ ही सरल और स्वामिभक्त है। प्रसेनजित् उसके बढ़ते हुए प्रभाव के कारण उससे ईर्षा करने लगता है। वह उसकी वीरता से आतङ्कित होकर उसे काशी का सामन्त बनाकर भेजता है। वन्धुल को काशी का सामन्त बनाया जाना रुचिकर नहीं है। वह अनुभव करता है कि 'यह सामन्त का आडम्बर पूर्ण पद कपटाचरण की सूचना देता है।' उसे तो 'सरल और सैनिक जीवन ही रुचिकर है' किन्तु 'राजा की आज्ञा' शिरोधार्य्य कर वह सामन्त पद स्वीकार करता है और अपनी निश्छल स्वामिभक्ति को कभी दूषित नहीं होने देता है।

वन्धुल के शौर्य्य और स्वामिभक्ति की परीक्षा विरुद्धक के सामने होती है। विरुद्धक उसके सामने आकर कहता है कि काशी का सामन्त बनाकर भेजने में प्रसेनजित् का एक षड़यन्त्र है जिसमें उसका अस्तित्व न रहे। अपने विरुद्ध षड़यन्त्र की इतनी स्पष्ट सूचना पाने पर भी प्रसेनजित से वह विद्रोह नहीं करता, वरन् वह विद्रोही राजकुमार विरुद्धक को वन्दी बनाने के लिए ललकारता है। वह चाहता तो विरुद्धक को सहयोग देकर प्रसेनजित को सिंहासन च्युत कर देता। विरुद्धक उसके सहयोग का अभिलाषी भी है।

वह कोशल का सिंहासन हस्तगत करना चाहता है। किन्तु बन्धुल स्वामिभक्ति की प्रेरणा से उसके प्रलोभनों को अस्वीकार कर देता है। विरुद्धक की चेतावनी की उपेक्षा कर वह अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ रहता है।

बन्धुल के शौर्य्य का ओजस्वी चित्रण नाटककार ने मल्लिका के द्वारा कराया है। मल्लिका अपने पति के विषय में अपने अनुभव के आधार पर कहती है—"वे तलवार की धार हैं, अग्नि की भयानक ज्वाला हैं, और वीरता के वरेण्य दूत हैं। मुझे विश्वास है कि सम्मुख युद्ध में शक्र भी उनके प्रचण्ड आघातों को रोकने में असमर्थ है।" युद्ध के प्रति उत्साह और साहस ही वीरता के सच्चे निदर्शन हैं। पाँच सौ मल्लों से सर्वत्र सुरक्षित पावा के अमृत सरोवर में अपनी प्रियतमा भार्य्या को अकेले जल पिलाने ले जाना उसके अदम्य उत्साह का परिचायक है। मल्लिका ने यद्यपि शङ्कित भाव से उससे कहा 'दूसरी जाति का कोई भी उसमें जल नहीं पीने पाता है।' बन्धुल तुरन्त उत्साहपूर्ण शब्दों में उसका समाधान करता है—'तभी तो तुम्हें वह जल अच्छी तरह पिला सकूँगा।" बन्धुल के रणोत्साह और साहस का परिचय विरुद्धक के साथ द्वन्द्वयुद्ध में भी मिलता है। शैलेन्द्र नामधारी विरुद्धक बन्धुल को द्वन्द्वयुद्ध के लिये निमन्त्रित करता है। बन्धुल एक सच्चे वीर की भाँति उसे स्वीकार करता है। क्रूर विरुद्धक छलपूर्वक उस पर आघात कर यद्यपि उसे मार डालता है, फिर भी बन्धुल के आघातों से वह बच नहीं पाता। वह भी घायल होकर बन्दी होता है। 'अजातशत्रु' नाटक में सरल, स्वामिभक्त सैनिक के रूप में बन्धुल का सफल चित्रण है।

दीर्घकारायण

कोशल—सेनापति बन्धुल का भागिनेय दीर्घकारायण, शूर सैनिक है। उसमें मानवोचित दुर्बलताओं के साथ विवेक भी है। वह प्रसेनजित् से असन्तुष्ट है। प्रसेनजित् ने उसके मातुल बन्धुल से विश्वासघात कर उसका वध कराया है। दीर्घकारायण के हृदय में प्रसेनजित् के विरुद्ध प्रतिहिंसा का जागृत होना स्वाभाविक है। वह प्रतिहिंसा की ज्वाला से निरन्तर सन्तप्त रहता है। मल्लिका, शक्तिमती, विरुद्धक आदि अनेक पात्रों के समक्ष वह अपने भावों को व्यक्त करता है। वह मल्लिका के समक्ष बड़े आग्रह से प्रसेनजित् से प्रतिशोध लेने का प्रस्ताव रखता है—"इसीलिए मैं तो यही कहूँगा कि इस मरणासन्न घमण्डी और दुर्वृत्त कोशल नरेश की रक्षा आपको नहीं करनी चाहिए।"

दीर्घकारायण के हृदय में प्रतिहिंसा का भाव प्रबल रूप में होने पर भी, उसमें विवेक है। वह सदुपदेश ग्रहण करता है। मल्लिका के करुणा और विश्वमैत्री मूलक उपदेशों के प्रभाव से उसकी प्रतिहिंसा दब जाती है। शक्तिमती के समक्ष वह अपने इसी मनोभाव को व्यक्त करता है—"देवि ! मैं एक दिन में इस कोशल को उलट-पलट देता, छत्र-चामर लेकर हठात विरुद्धक को सिंहासन पर बैठा देता, किन्तु मन के बिगड़ने पर भी मल्लिका देवी का शासन मुझे सुमार्ग से न हटा सका।"

कारायण केवल प्रसेनजित के व्यक्तित्व से असन्तुष्ट है। वह व्यक्तिगत द्वेषभाव से राष्ट्र का अहित करने को तैय्यार नहीं है। विरुद्धक पिता से द्रोह करने के साथ ही राष्ट्र से भी द्वेष करता है। वह कारायण को भी उकसाकर अपनी ओर मिलाने का पूर्ण प्रयत्न करता है। शक्तिमती भी कारायण को अपने राष्ट्रद्रोही पुत्र की

सहायता करने के लिए उत्तेजित और प्रोत्साहित करती है। किन्तु वह राष्ट्रद्रोह में उनका साथ नहीं देता। उसके इस कार्य्य से उसका विवेकपुष्ट राष्ट्रप्रेम प्रकट होता है; और विरुद्धक के प्रति विश्वासघात करने का आरोप भी उस पर नहीं लगाया जा सकता है। कारायण विरुद्धक के समक्ष जो अपनी सफाई देता है उससे यही बात व्यंजित होती है—"राजकुमार, मैं आपसे भी क्षमा चाहता हूँ, क्योंकि आप जिस विद्रोह के लिए मुझे आज्ञा दे गए थे, मैं उसे करने में असमर्थ था—अपने राष्ट्र के विरुद्ध यदि आप अस्त्र ग्रहण न करते तो सम्भवतः मैं आपका अनुगामी हो जाता, क्योंकि मेरे हृदय में भी प्रतिहिंसा थी। किन्तु वैसा न हो सका। उसमें मेरा अपराध नहीं।"

नाटक में राजकुमारी वाजिरा के प्रति कारायण का प्रणय भाव प्रदर्शित है। कारायण का प्रेम एकांगी है। वाजिरा उसकी ओर आंख उठाकर देखती भी नहीं है। वह बंदी गृह में वाजिरा को अजात के साथ प्रेमाभिनय करते देखकर क्षुब्ध हो जाता है और उससे कहता है—"आह! मेरी समस्त आशाओं पर तुमने पानी फेर दिया......।" वाजिरा उसे तत्काल उपेक्षापूर्ण उत्तर देती है—"सावधान! कारायण, अपनी जीभ सम्हालो।" इससे स्पष्ट है कि वाजिरा का उसके प्रति आकर्षण नहीं है। इस घटना के बाद केवल एक स्थल पर हम कारायण को अपने प्रेम की असफलता पर पश्चात्ताप करते हुए पाते हैं। वह शक्तिमती से कहता है—"रानी! हम इधर से भी गए और उधर से भी गये। विरुद्धक को भी मुँह दिखाने लायक न रहे और वाजिरा भी न मिली।" वाजिरा के प्रति कारायण का प्रेम सम्भवतः महत्वाकांक्षा प्रेरित है। वह वाजिरा को हस्तगत कर कोशल के सिंहासन का उत्तराधिकारी बनना चाहता है। ऐसे स्वार्थयुक्त प्रेम का जो परिणाम होना चाहिए वही होता भी है।

दीर्घ कारायण का चरित्र सामान्य कोटि का है। न तो वह सद्गुणों की खान है न वह दुर्वृत्तियों का आवास ही है। सद् और असद् वृत्तियों का उदय उसके हृदय में सहवास के कारण होता है। विरुद्धक और शक्तिमती के समक्ष तो प्रसेनजित के प्रति उसकी प्रतिहिंसा सजग हो जाती है पर मल्लिका के प्रभाव में आने पर वह शान्त हो जाता है।

वासवी

वासवी के चरित्र में स्त्री-सुलभ कोमलता, स्निग्धता, सहिष्णुता तथा अनवरत पतिभक्ति प्रदर्शित है। वह कठिन से कठिन परिस्थितियों में अपने पति बिम्बसार के साथ जीवन निर्वाह करती है। उसकी सपत्नी छलना और सपत्नी-पुत्र अजात उसके साथ शत्रुवत् व्यवहार करते हैं। उसके ऊपर प्रतिबन्ध बैठा दिया जाता है। उसे राज्य से आर्थिक सहायता नहीं मिलती। उसकी स्वतन्त्रता सीमित कर दी जाती है। किन्तु वह निरन्तर अनन्य भाव से अपने पति की सेवा में तत्पर रहती है। वासवी अपनी शान्ति और विनम्र वाणी द्वारा बिम्बसार के उत्तेजित हृदय को शान्त करती है; उसके वैराग्ययुक्त विचारों का वह समर्थन कर उन्हें पुष्ट करती रहती है। वह अपने पति की इच्छापूर्ति के लिए अपनी अति प्रिय वस्तु का भी त्याग सहर्ष कर देती है। बिम्बसार की इच्छानुसार वह भिक्षुकों को अपना रत्नजटित स्वर्ण-कङ्कण सहर्ष देती हुई कहती है—"प्रभु! इन स्वर्ण और रत्नों का आँखों पर बड़ा रङ्ग रहता है, जिनसे मनुष्य अपना अस्थि-चर्म का शरीर तक नहीं देखने पाता।"

वासवी की सहिष्णुता और कोमलता तो अलौकिक है। उसकी सपत्नी छलना पग पग पर उसे अपमानित करती है, उस पर व्यङ्ग वर्षा करती है, तथा वह उसे नाना प्रकार की मानसिक यंत्रणाएँ पहुंचाती है। किन्तु वासवी पूर्ण निर्विकार हृदय से छलना की कल्याण कामना करती हुई, उसकी सद्बुद्धि के लिए प्रार्थना करती है। वह छलना के एक भी कटुवचन का कठोर प्रत्युत्तर नहीं देती है। अजात की प्रथम विजय से गर्वोन्नत छलना, अत्यन्त दम्भ-भाव

से वासवी पर व्यंग्य वर्षा करती है—'किन्तु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और संदेश भी अच्छी तरह से नहीं कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता, न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता।' बिम्बसार छलना की इस कठोर उक्ति से अत्यन्त उत्तेजित हो जाता है, किन्तु वासवी अपनी स्वाभाविक सहिष्णुता का परिचय देती हुई पूर्ण शान्त भाव से यही कहती है—"बहिन! जाओ, सिंहासन पर बैठकर राजकार्य्य देखो। व्यर्थ झगड़ने से तुम्हें क्या सुख मिलेगा? और अधिक तुम्हें क्या कहूँ; तुम्हारी बुद्धि!"

संतोष और सहिष्णुता के समक्ष महत्वाकांक्षा और प्रमाद का पराभव प्रकृति-सिद्ध है। संतोष, उदारता, सहिष्णुता आदि मानव के सहज धर्म हैं। अहंकार, मात्सर्य, द्वेष आदि पाशव वृत्तियाँ है। मानवता सदैव ही पशुता पर विजयिनी हुई है। अतः मानवता के स्वाभाविक गुणों से अलंकृत वासवी के समक्ष पशुवत् प्रमादपूर्ण एवं ईर्षायुक्त आचरण करने वाली छलना को भी घुटने टेकने पड़ते हैं। हिंसा, कुटिलता और क्रूरता की नींव पर उठाया हुआ छलना के महत्व का प्रासाद धराशायी होता है; उसका अजात युद्ध में घायल होकर बन्दी होता है। तब उसकी आँखें खुलती हैं। वह वासवी से अपने पुत्र की भिक्षा माँगती हुई अपने हृदय की दुर्बलताओं को ग्लानियुक्त भाव से स्वीकार करती है—'मेरा कुणीक मुझे दे दो, मैं भीख माँगती हूँ। मैं नहीं जानती थी कि निसर्ग से इतनी करुणा और इतना स्नेह, सन्तान के लिए, इस हृदय में सञ्चित था। यदि जानती होती तो इस निष्ठुरता का स्वांग न करती।' अजात भी अपनी माता की कुशिक्षा के प्रभाव से वासवी की उपेक्षा और अनादर एक लम्बे समय तक करता रहता है। किन्तु अन्त में उसे वासवी की निश्छल प्रीति की प्रतीति होने पर वह भी उसकी गोद में बैठ कर अपूर्व शीतलता का अनुभव करता

है। वासवी के हृदय की सात्विक कोमलता, स्नेहभाव आदि परिस्थितिजन्य नहीं है। वे सुख दुःख, विजय पराजय आदि सभी जीवनदशाओं में समभाव से रहने वाले उसके हृदय के सामान्य धर्म हैं। उसका समस्त जीवन उनसे अनुप्राणित है। वह अजात को प्रसेनजित् के कारावास में एक क्षण के लिए भी बन्दी दशा में नहीं देख सकती है। वह उसे तत्काल ही मुक्त कराती है। छलना जब सच्चे हृदय से पश्चात्ताप प्रकट करती हुई बिम्बसार से अपने दुष्कर्मों के लिए क्षमायाचना करती है तब वासवी कौशल-युक्त कथन से उसे अपना सहयोग देती है। वह बिम्बसार से छलना के लिए क्षमादान की सिफारिश करती हुई कहती है—"आर्य्यपुत्र! अब मैंने उसको दण्ड दे दिया है, यह मातृत्व के पद से च्युत की गई है, अब इसको आपके पौत्र की धात्री का पद मिला है। एक राजमाता को इतना बड़ा दण्ड कम नहीं है; अब आपको क्षमा करना ही होगा।"

बिम्बसार स्वयं वासवी के अलौकिक गुणों पर मुग्ध होकर चकित होता है। वह कहता है 'वासवी! तुम मानवी हो कि देवी।' वास्तव में वासवी मानवी रूप में देवी है।

से वासवी पर व्यंग्य वर्षा करती है—'किन्तु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और संदेश भी अच्छी तरह से नहीं कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता, न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता।' बिम्बसार छलना की इस कठोर उक्ति से अत्यन्त उत्तेजित हो जाता है, किन्तु वासवी अपनी स्वाभाविक सहिष्णुता का परिचय देती हुई पूर्ण शान्त भाव से यही कहती है—"बहिन! जाओ, सिंहासन पर बैठकर राजकार्य्य देखो। व्यर्थ झगड़ने से तुम्हें क्या सुख मिलेगा? और अधिक तुम्हें क्या कहूँ; तुम्हारी बुद्धि!"

संतोष और सहिष्णुता के समक्ष महत्वाकांक्षा और प्रमाद का पराभव प्रकृति-सिद्ध है। संतोष, उदारता, सहिष्णुता आदि मानव के सहज धर्म हैं। अहंकार, मात्सर्य, द्वेष आदि पाशव वृत्तियाँ है। मानवता सदैव ही पशुता पर विजयिनी हुई है। अतः मानवता के स्वाभाविक गुणों से अलंकृत वासवी के समक्ष पशुवत् प्रमादपूर्ण एवं ईर्षायुक्त आचरण करने वाली छलना को भी घुटने टेकने पड़ते हैं। हिंसा, कुटिलता और क्रूरता की नींव पर उठाया हुआ छलना के महत्व का प्रासाद धराशायी होता है; उसका अजात युद्ध में घायल होकर बन्दी होता है। तब उसकी आँखें खुलती हैं। वह वासवी से अपने पुत्र की भिक्षा माँगती हुई अपने हृदय की दुर्बलताओं को ग्लानियुक्त भाव से स्वीकार करती है—'मेरा कुणीक मुझे दे दो, मैं भीख माँगती हूँ। मैं नहीं जानती थी कि निसर्ग से इतनी करुणा और इतना स्नेह, सन्तान के लिए, इस हृदय में सञ्चित था। यदि जानती होती तो इस निष्ठुरता का स्वांग न करती।' अजात भी अपनी माता की कुशिक्षा के प्रभाव से वासवी की उपेक्षा और अनादर एक लम्बे समय तक करता रहता है। किन्तु अन्त में उसे वासवी की निश्छल प्रीति की प्रतीति होने पर वह भी उसकी गोद में बैठ कर अपूर्व शीतलता का अनुभव करता

और वीर-प्रसूती होकर एक बार गर्व से तुमसे चरण-वन्दन कराऊँगी।" वह अपनी अदूरदर्शिता से ही हिताहित की पहिचान न कर देवदत्त के इशारों पर चलती है।

नारी-हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विरुद्ध चलने के कारण छलना अपने उद्देश्यों में असफल होती है। वासवी के शब्दों में—"नारी का हृदय कोमलता का पालना है, दया का उद्‌गम है, शीतलता की छाया है और अनन्य भक्ति का आदर्श है।" छलना अपने जीवन में इनकी उपेक्षा कर व्यर्थ ही पुरुषार्थ का ढोंग करती है। परिणामस्वरूप वह पुत्र भी खोती है और पति की भी विद्रोहिनी होती है।

छलना की आखें अपनी असफलता का प्रत्यक्षीकरण करने पर खुलती हैं। वासवी के निरन्तर शीतल व्यवहार ने उसके रक्त की उष्णता पर विजय पाई। वह रोती हुई वासवी के अञ्चल में मुँह डाल कर उससे अपने पुत्र की भीख माँगती है। वासवी की कृपा से ही उसे आत्मबोध होता है जिससे वह अपने पति के समक्ष अपने दुराचरणों के लिए ग्लानि प्रकट करती हुई क्षमा माँगती है। उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का अन्त, अजात को द्वितीय युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने के साथ ही होता है। वासवी के समक्ष उसकी रोषपूर्ण झलक निर्वाणोन्मुख दीपशिखा के अवशिष्ट आलोक की भाँति है। उसके बाद वह वासवी को पूर्णतया आत्मसमर्पण कर उसी के प्रयास से अपने खोए हुए मातृत्व और पत्नीत्व को पुनः प्राप्त करती है।

मागन्धी (श्यामा)

दरिद्र-कन्या मागन्धी अपने रूप और कौशल से जीवन की सामान्यतम स्थिति से उठकर चरम ऐश्वर्य एवं वैभव को प्राप्त करती है। वासना की अतृप्ति में वह विभिन्न जीवन दशाओं का अतिक्रमण करती हुई पुनः अपनी पूर्व सामान्य दशा को पहुँच जाती है। वासना और वैभव के पंक से निकलने पर ही उसे जीवन की सच्ची शान्ति और सुख प्राप्त होते हैं। नारी-जीवन की इस अनेकरूपता में ही उसके चरित्र का महत्व है।

मागन्धी की अकिंचनावस्था में, उसके पास, उसकी एकमात्र सम्पत्ति उसका रूप है। वह सर्व साधारण के आकर्षण की वस्तु है। उसके रूप ने कौशाम्बी नरेश उदयन को उसके चरणों में लुटा दिया। कुटिल कूट-नीतिज्ञ समुद्रदत्त उसके रूप से प्रभावित हो उसका विना मूल्य का दास वन जाता है और कठोर क्रूर-कर्म्मा विरुद्धक भी उसके सौन्दर्य्य के प्रभाव से भूल जाता है कि वह डाकू है। मागन्धी के सम्पर्क में आनेवालों में केवल महात्मा गौतम ही उसकी रूपशिखा के शलभ नहीं बनते।

मागन्धी में रूप होने के साथ ही रूप-गर्व भी है। किसी के द्वारा वह इसकी उपेक्षा सहन नहीं कर सकती। गौतम उसके रूप का तिरस्कार करते हैं। रूप-गर्व में मदान्ध मागन्धी की प्रतिशोध भावना गौतम के विरुद्ध भभक उठती है। वह निश्चय करती है—"दिखला दूंगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं।"

मागन्धी की कूटबुद्धि, वाक्‌चातुरी और कार्य्य-तत्परता उसे अपने निश्चयों को कार्य्य रूप में परिणित करने में बड़े सहायक हैं। गौतम के प्रति प्रतिशोध भावना तथा दरिद्र कन्या होने के

कारण उदयन के महलों में अपमान की यन्त्रणा से प्रताड़ित होकर वह एक ही चोट से गौतम और उदयन दोनों को एक साथ पराभूत करने का कौशलयुक्त षड़यन्त्र करती है। पद्मावती के महल से मँगाई हुई हस्तिस्कंध वीणा से जिस कौशल द्वारा साँप का बच्चा निकलवाकर वह उदयन का हृदय गौतम और पद्मावती की ओर से फेर देती है वह सराहनीय है। इसी प्रकार से विरुद्धक की प्राण-रक्षार्थ वह कूट कौशल द्वारा समुद्रदत्त को काशी के दण्डनायक के पास विरुद्धक के स्थान पर उसे सूली पर चढ़ाने के लिए भेज कर अपना अभीष्ट सिद्ध करती है।

मागन्धी में साहस और दृढ़ता है तथा वह परिस्थितियों पर विजय पाने की क्षमता रखती है। कौशाम्बी के महल में सफलता को हाथ से निकलते देख कर वह साहसपूर्वक अग्निकांड प्रस्तुत करती हुई अछूती निकल जाती है। बन्धुल द्वारा विरुद्धक के घायल और बन्दी होने का समाचार प्राप्त कर वह चिन्तित अवश्य होती है पर अधीर नहीं होती, और बड़ी स्वाभाविकता से दण्ड-नायक का संदेश सुनकर दासी से कहती है—'अच्छा सुन चुकी। जा शीघ्र सङ्गीत का सम्भार ठीक कर.........।

मागन्धी अभीष्ट सिद्ध में निर्मम भी है। वह आत्मसुख की प्राप्ति के लिए प्रत्येक वैध अथवा अवैध मार्ग का अवलम्बन कर सकती है। आत्म-स्वातन्त्र्य और आत्म-सुख की चिर-अभिलाषा अपने हृदय में सञ्चित किए हुए वह कहती है—"मैं उसी श्यामा की तरह हूँ जो स्वतन्त्र है, राजमहल की परतन्त्रता से बाहर आई हूँ। × × × × फूलों की धूल से अङ्गराग बनाऊँगी, चाहे उसमें कितनी ही कलियाँ क्यों न कुचलनी पड़ें! चाहे कितनों ही के प्राण जाँय, मुझे कुछ चिन्ता नहीं। कुम्हलाकर फूलों को कुचल देने में ही मुझे सुख है।" मागन्धी आत्म-स्वातंत्र्य और आत्म-सुख के लिए ही उदयन का महल परित्याग कर काशी की

सुप्रसिद्ध वारविलासिनी श्यामा बन जाती है। उसे न तो उदयन का महल फूँक कर आने में घबड़ाहट होती है और न वह समुद्रदत्त को सूली पर चढ़ाने के लिए भेजने में ही हिचकती है।

मागन्धी के प्रथम यौवन आवेग में वासना का ही प्राधान्य है। गौतम और उदयन के प्रति उसका प्रणयभाव वासनामूलक है। वासना तृप्ति के लिए ही वह वारविलासिनी बन जाती है। विरुद्धक का साक्षात्कार होने पर उसके हृदय में स्थायी प्रणयभाव का उदय होता है। सात्विक प्रणयभाव पूर्ण विश्वास और बलिदान सापेक्ष है। वासना की भाँति वह आत्मतुष्टि में ही सीमित नहीं रहता। वह आलम्बन के प्रति पूर्ण विश्वस्त हो उसके दुःख सुख से दुःखी और सुखी होता है तथा आलम्बन के लिए सर्वस्व बलिदान की तत्परता रखता है। विरुद्धक के प्रति मागन्धी का प्रणय भाव इसी कोटि का है। वह शैलेन्द्र नाम धारी डाकू विरुद्धक पर पूर्ण विश्वास करके उससे मिलने एकान्त जङ्गल में जाती है। वह शैलेन्द्र से कहती है—"शैलेन्द्र, लो यह अपनी नुकीली कटार, इस तड़पते हुए कलेजे में भोंक दो।" श्यामा की इस उक्ति से उसका निश्छल आत्मसमर्पण अभिव्यक्त होता है।

वह वारविलासिनी होते हुए भी प्रेम करना जानती है। प्रियतम की विपन्नावस्था अवगत कर वह भी अपनी शान्ति और सुख खो देती है। विरुद्धक घायल और बन्दी होता है पर उसके साथ ही मागन्धी की प्रणयलता पर मानों वज्रपात होता है। प्रिय शैलेन्द्र के बचाने की चिन्ता में वह अपना समस्त ऐश्वर्य सुख भूल जाती है। मागन्धी का प्रणय प्रेमी के वियोग में मूक रुदन कराने वाला नहीं है वरन् वह उसे कठोर कर्त्तव्यों की ओर प्रेरित करता है। वह समुद्रदत्त को चकमा देकर शूली-ग्रह में विरुद्धक का स्थान ग्रहण करने उसे भेज देती है। यद्यपि विरुद्धक उसके प्रणय की सत्यता को नहीं पहिचानता और एकान्त वनप्रदेश में उसकी हत्या

का प्रयास कर उसका सर्वस्व अपहरण करता है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि श्यामा उसे हृदय से चाहती है और उसके प्रणय में यथार्थता पूर्ण रूप से है।

मागन्धी के जीवन में अन्तिम परिवर्तन घटनाओं के घात-प्रतिघात और आत्म निरीक्षण से है। विरुद्धक की निष्ठुरता से उसका प्रताड़ित हृदय, गौतम के सहज करुणाभाव और मल्लिका की अलौकिक क्षमाशीलता से, विश्व के वैभव सुखों से विरक्त होकर वासना विहीन हो जाता है और उसमें पुनीत सात्त्विकता का उदय हो जाता है। मल्लिका उसके सामने ही विरुद्धक से उसे पुनः अपनाने के लिए कहती है किन्तु मागन्धी स्वतः उसे अस्वीकार करती हुई कहती है—"नहीं देवि! अब मैं आपकी सेवा करूँगी, राजसुख मैं बहुत भोग चुकी हूँ। अब मुझे राजकुमार विरुद्धक का सिंहासन भी अभीष्ट नहीं है, मैं तो शैलेन्द्र डाकू को चाहती थी।"

मनुष्य, जीवन में ठोकर खाकर ही, सम्हलता है। वह कुछ खोकर ही सीखता है। मागन्धी ने देखा—'ओह, जिसके लिए मैंने अपना सब छोड़ दिया अपने वैभव पर ठोकर लगा दी, उसका ऐसा आचरण।' इस चिन्तन के परिणाम स्वरूप प्रतिहिंसा और पश्चात्ताप से उसका सारा शरीर भस्म होने लगता है। पश्चात्ताप की आँच में तपकर उसका हृदय कंचन की भाँति शुद्ध हो जाता है और आत्म-दृष्टि निर्मल हो जाती है। वह अतीत जीवन की अवास्तविकता को पहिचानती हुई कहती है—"अपनी परिस्थिति को संयत न रखकर व्यर्थ महत्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया, काल्पनिक सुख-लिप्सा ही में पड़ी—उसी का यह परिणाम है। स्त्री-सुलभ एक स्निग्धता, सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आगए।"

हृदय और बुद्धि के निर्मल हो जाने पर जीवन की वास्तविक शान्ति और मङ्गल प्राप्ति सम्भव है। मागन्धी गौतम के चरणद्वय की शीतल छाया, हृदय की विच्छृङ्खलता और विदग्धता का त्याग करने पर, प्राप्त करती है जिससे उसके प्यासे हृदय की तृष्णा सदैव रूप में मिट जाती है।

नाटक की प्रधान कथावस्तु से मागन्धी के चरित्र का कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता है। किन्तु सामान्य नारी जीवन में रूप यौवन और वासना का प्रबल द्वन्द्व से जो उतार चढ़ाव आते हैं उनका निदर्शन नाटककार ने इसके चरित्र में बड़ी मनोवैज्ञानिक पद्धति पर किया है। वासना प्रेरित जीवन की परिवर्तनशीलता और उसका चरमोत्कर्ष यथार्थ दृष्टि से चित्रित करते हुए, आदर्श की ओर उसकी प्रेरणा बड़ी स्वाभाविक रीति से की गई है। नाटककार को मागन्धी के चरित्र निर्वाह में यथेष्ट सफलता मिली है, यह बात निस्सन्देह है।

मल्लिका

मल्लिका आदर्श स्त्री-पात्र है। पति-परायणता, स्नेह, करुणा, विश्वमैत्री, उदारता, आतिथ्य-सेवा आदि सभी आदर्श गुण उसके पावन चरित्र में वर्तमान हैं। उसके महिमामय व्यक्तित्व के सम्पर्क में आकर क्रूर, कुटिल उद्धत एवं वासना युक्त वृत्तियों के पात्र कल्मष-विहीन हो मनुष्यत्व प्राप्त करते हैं। उसके समक्ष उद्धत और अभिमानी अजातशत्रु का 'हृदय नम्र होकर आप-ही आप प्रणाम करने को झुक रहा है।' कुटिल कोशल-नरेश प्रसेनजित् उससे बारम्बार क्षमा माँगकर अपने हृदय को संतोष प्रदान करता है; क्रूर-कर्म्मा विरुद्धक उस 'उदारता की मूर्ति' की कृपा से अपने प्राण बचाने का उपाय प्राप्त करता है। वासनायुक्त मागन्धी मल्लिका की सम्पूर्ण मनुष्यता में काल्पनिक देवत्व का साक्षात्कार कर कृतार्थ होती है।

मल्लिका की पति-परायणता व्यक्तिगत ऐहिक सुखों के विषय वासनायुक्त जीवन के संकीर्ण घेरे में आबद्ध नहीं है। वह अपने पति के स्वतंत्र व्यक्तित्व को शृङ्गारमंजूषा में बन्द करके नहीं रखती है। 'महान् हृदय को केवल विलास की मदिरा पिलाकर मोह लेना ही (उसका) कर्त्तव्य नहीं है।' वह स्वामी को कठोर कर्म में सोत्साह प्रेरित करती हुई पति परायणता के साथ अपनी लोकहित भावना को भी चरितार्थ करती है। मल्लिका का पति-प्रेम पति के बल-वीर्य की अनुभूति से ओतप्रोत है। उसे इसका मिथ्या गर्व नहीं, वरन् सुखद सन्तोष है। वह 'कठोर कर्मपथ में अपने स्वामी के पैर का कंटक भी······नहीं होना चाहती। इसी से शक्तिमती जब उसे कोशलनरेश की कुटिलता अवगत कराकर बन्धुल को काशी से वापस

में सदैव समदृष्टि रखना जीवन की बड़ी उच्च और आदर्श स्थिति है। मल्लिका को मनसा वाचा कर्मणा हम इसी आदर्श स्थिति पर सदैव प्रतिष्ठित पाते हैं। 'स्त्री-सुलभ, सौजन्य और समवेदना, कर्त्तव्य और धैर्य्य की शिक्षा' को वह व्यवहार क्षेत्र में अपने पुनीत आचरणों द्वारा सार्थकता प्रदान करती है। उसके जीवन की इसी महत्ता से प्रभावित हो कर सद्धर्म के सेनापति सारिपुत्र और आनन्द उसकी भूरि भूरि सराहना कर उससे कर्त्तव्य शिक्षा प्राप्त करते हैं।

मल्लिका के चरित्र में सद्वृत्तियों का चूड़ान्त निदर्शन है। वह अपने महान् गौरवशाली गुणों की गरिमा से सामान्य लौकिक जीवन के धरातल से बहुत ऊँची उठी प्रतीत होती है। जीवन की ऐसी एकाङ्गी आदर्श स्थिति साधारणतया काव्य-जगत में ही सम्भव है। सामान्य जगत में विरल होने से, वह अतिरञ्जित प्रतीत होता है। किन्तु जिस देशकाल में गौतम जैसे सर्वगुण-सम्पन्न महात्मा की स्थिति का इतिहास विश्रुत है उसमें मल्लिका सदृश पावन चरित्रशालिनी नारी की कल्पना भी यथार्थ है। देशकाल की दृष्टि से मल्लिका का चरित्र काल्पनिक होते हुए भी परम स्वाभाविक एवं सजीव है।

है किन्तु कारायण पर मल्लिका के व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव होने के कारण उसके द्वारा अभीष्ट सिद्धि में उसे सफलता नहीं मिलती है।

शक्तिमती में अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए निष्ठुर सङ्कल्प ही, वरन् तदनुरूप आचरण करने की तत्परता भी है। उसका पुत्र विरुद्धक उसके प्रोत्साहन से प्रतिज्ञा करता है—"माँ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के मूल कारण इन शाक्यों का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त में नहाकर, इस कोशल के सिंहासन पर बैठकर, तेरी वन्दना करूँगा।" शक्तिमती उसके सिर पर हाथ फेरती हुई कहती है—

'मेरे बच्चे, ऐसा ही हो।' यह उसकी पाशवप्रवृत्ति और बर्बरता का परिचायक है। दीर्घकारायण एक स्थल पर वार्तालाप के प्रसङ्ग में शक्तिमती से पूँछता है—'तब क्या करती? अपने स्वामी की हत्या करके अपना गौरव, अपनी विजय-घोषणा स्वयं सुनातीं?' शक्तिमती इसका तत्काल उत्तर देती है—"यदि पुरुष इन कामों को कर सकते है तो स्त्रियाँ क्यों न करें?" उसके इस कथन से उसके हृदय की निष्ठुरता प्रकट होती है। उसे यदि अवसर मिलता तो सम्भवतः वह अपने विचारों को कार्य्यरूप में परिणित भी करती।

असद् भावनाओं और आचरणों का पूर्ण और स्थायी साफल्य, आदर्श की दृष्टि से असम्भव है। शक्तिमती द्वेष और दुर्भावनाओं का प्रचार कर अपनी मनोकामना की पूर्ति चाहती है। उसे क्षणिक और आंशिक सफलता ही मिलती है। प्रसेनजित् केवल एक बार ही घायल होकर पराजित होता है। किन्तु शीघ्र ही वह अपनी शक्ति सङ्गठित कर अजात और विरुद्धक को पराजित कर महामाया की महत्वाकांक्षाओं पर अर्गला लगा देता है।

महामाया फिर गौड़ नरेश की [illegible] और मदिरा को उसकी और निस्पन्द अन्तर्निहित करने में समर्थ नहीं होती; वह राक्षस की तरह से दवाकर वीर महम्मा के आगे फिर झुकती है और उसकी हालत में [illegible] गाड़ हुए पद और सम्मान को प्राप्त करती है।

पद्मावती

पद्मावती सरल बालिका, स्नेहमयी भगिनी और पतिव्रता पत्नी के रूप में नाटक में चित्रित है। पितृ-परिवार में वह भाई अजात की मङ्गल कामना से प्रेरित हो उसे सन्मार्ग का निर्देश करती है। वह सरल एवं स्नेहमय उपालंभ द्वारा बिम्बसार के मुर्भाए मन को मुकुलित करती है। वह लाड़ भरे शब्दों में बिम्बसार से कहती है—"पिता जी, मुझे बहुत दिनों से आपने कुछ नहीं दिया है, पौत्र होने के उपलक्ष में तो मुझे कुछ अभी दीजिए, नहीं तो मैं उपद्रव मचाकर इस कुटी को खोद डालूंगी।" आकुल हृदया माता को आश्वासन युक्त संदेश भेजकर उसकी चिन्ता निवारण का उपाय करती है। वह मगध परिवार की आदर्श बालिका है।

पद्मावती में सहिष्णुता और गंभीरता, स्त्री-सुलभ सौजन्य के साथ पूर्ण रूप से विद्यमान है। उसका भाई अजात कोमलता और सद्कर्म शिक्षा की अवहेलना करता है। छलना भी पद्मावती की आलोचना करती है और गृह-विद्रोह की आग लगाने का अभियोग उस पर लगाती है। किन्तु पद्मा उक्त अभियोग का प्रतिकार कटुता पूर्वक नहीं करती, वरन् स्वयं पितृ-गृह को त्याग कर वह अपने पति के यहाँ चली जाती है। व्यक्तिगत अपमान के विरुद्ध उसके हृदय में प्रतिहिंसा की भावना नहीं जाग्रत होती।

पतिव्रता स्त्री, पति के अकारण रुष्ट हो जाने पर भी उसका अमङ्गल नहीं चाहती। वह स्वामी की प्रत्येक इच्छा के आगे सविनय मस्तक झुका देती है। पद्मावती की पति-निष्ठा इसी प्रकार की है। मागन्धी के षड्यन्त्र के कारण उदयन पद्मावती पर अकारण संदेह करने लगता है और उससे असन्तुष्ट हो जाता है। पद्मावती

को स्वामी का असन्तोष सह्य नहीं है। वह अपनी मानसिक दशा का परिचय देती हुई कहती है—"स्वामी मुझसे असन्तुष्ट हैं। भला यह वेदना मुझसे कैसे सही जायगी। कई बार सामी गई; किन्तु वहाँ तेवर ही ऐसे हैं कि किसी को अनुनय-विनय करने का साहस ही नहीं होता। फिर भी कोई चिन्ता नहीं, राज-भक्त प्रजा को विद्रोही होने का भय ही क्यों हो।" पद्मावती के हृदय की निश्छलता ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। उसी की अभय छाया में वह संतोष और विश्रान्ति का अनुभव करती है।

उदयन, पद्मावती को खिड़की से, करुणानिधान गौतम का दर्शन करते हुए देखकर उस पर पापाचरण का आरोप करता है। उसका शंकाकुल हृदय क्षोभित हो जाता है और वह पद्मावती की हत्या के लिए खड्ग प्रहार करने को प्रस्तुत हो जाता है। पद्मावती अत्यन्त शान्त भाव से अपने हृदय की विशुद्धता की घोषणा करती हुई स्वामी के समक्ष अति विनीत भाव से आत्मसमर्पण करती है। वह कहती है—"प्रभु! स्वामी! क्षमा हो! यह मूर्ति मेरी वासना का विष नहीं है, किन्तु अमृत है × × × × उन बुद्ध को मांस पिंडों की कभी आवश्यकता नहीं।" वह स्वामी को तलवार निकाले हुए देख कर भयभीत नहीं होती प्रत्युत अपने हृदय की निर्मलता को व्यक्त करती हुई वह उसके समक्ष नतमस्तक होती है। सती के तेज और सत्य के शासन के समक्ष उदयन की पशुता लुप्त हो जाती है। उसका खड्गयुक्त हाथ उठता ही नहीं। पति की इच्छापूर्ति में ही पद्मावती को सच्चा आत्म संतोष है चाहे उसके पति की इच्छा उसी की हत्या करने ही की क्यों न हो। अतः वह 'नसें चढ़ गई होंगी' कहती हुई उसी की बलि के लिए प्रस्तुत खड्गयुक्त हाथ को सीधा करती है। पद्मावती का यह कार्य्य उसके उत्कृष्ट आत्म त्याग और पति-परायणता का परिचायक है। उदयन को भी अपनी भूल विदित होने पर उसके आगे घुटने टेकने पड़ते हैं।

पद्मावती गौतम के करुणामय उपदेशों से प्रभावित है। वह उनके उपदेश भक्तिपूर्वक सुनती है और उनके अप्रतिम व्यक्तित्व की विशुद्ध हृदय से उपासना करती है। किन्तु उदयन को छोड़ कर नाटक का कोई पात्र उसके व्यक्तित्व के सीधे सम्पर्क से प्रभावित हो अपनी जीवन दिशा नहीं बदलता है। वह मल्लिका की भाँति विश्वमैत्री और करुणा के उपदेशों और आचरणों द्वारा असद्वृत्ति के पात्रों को सद्वृत्तियों की ओर प्रेरित नहीं करती है इसका कारण सम्भवतः राजमहलों में उसका वधू जीवन है। वह सर्वसाधारण के सम्पर्क से परे है। वस्तुतः नाटककार ने उसके चरित्र में सहिष्णुता, कोमलता, पतिपरायणता आदि प्रदर्शित कर उसके व्यक्तित्व को परम श्रद्धास्पद बना दिया है।

जीवक और वसन्तक

जीवक मगध का राजवैद्य और वसन्तक कौशाम्बी नरेश उदयन की राजसभा का विदूषक है। जीवक गम्भीर स्वामिभक्त सेवक है। वह 'कुलपुत्र अर्थात् राजशक्ति का विरोधी होकर' अपने स्वामी बिम्बसार की सेवा में आता है। वह शुद्ध हृदय से ही बिम्बसार से कहता है—"यह जीवन अब आपही की सेवा के लिए उत्सर्ग है।" जीवक की इस व्यावहारिक तत्परता के मूल में स्वामी के मंगल की सच्ची भावना है। समुद्रदत्त और देवदत्त की दुर्नीति और कुचक्रों को वह समझता है। देवदत्त की दुर्नीति के लिए वह असंदेह निर्भयता पूर्वक तिरस्कार भी करता है। यथा—"संघभेद करके आपने नियम तोड़ा है; उसी तरह राष्ट्रभेद करके क्या देश का नाश करना चाहते हैं।" × × × इन लोगों की यह कूट मंत्रणा अच्छी तरह समझ रहा हूँ। इसका परिणाम कदापि अच्छा नहीं। सावधान, मगध का अधःपतन दूर नहीं है।" अस्तु जीवक परिस्थितियों की पर्याप्त जानकारी के बाद दृढ़ निश्चय के साथ स्वामी के लिए कल्याण कार्य्य में प्रवृत्त होता है।

जीवक का प्रधान कार्य्य संदेशवाहक का है। वह मगध के समाचार कौशाम्बी और कोशल पहुँचाता है और इन स्थानों के समाचार बिम्बसार को देता है। कौशाम्बी की प्रथम यात्रा में तो वह वहाँ की जटिल परिस्थिति के कारण अपनी बात अच्छी तरह से किसी से कहने का अवसर ही नहीं पाता। वह स्वयं चकित हो जाता है। उदयन उसकी बात सुनकर अनसुनी कर जाते हैं। अन्त में वसन्तक ही उसकी शङ्का का समाधान करता है। वह वासवदत्ता का सन्देशा जीवक को देता है—"आर्य्यपुत्र की अवस्था आप देख

रहे हैं; उनके व्यवहार पर ध्यान न दीजिएगा। पद्मावती मेरी सहोदरा है, उसकी ओर से आप निश्चिन्त रहें।"

जीवक को इस प्रथम यात्रा-प्रसंग में कोशल में विशेष सफलता मिलती है। प्रसेनजित्, जीवक से मगध का समाचार प्राप्त कर विम्बसार और वासवी की जीविका निर्वाह के लिए काशी का राजस्व उन्हीं को देने का आदेश देता है। जिस प्रकार जीवक मगध के समाचार कोशल और कौशाम्बी में बिना किसी अतिशयोक्ति के कहता है उसी प्रकार वह कोशल और कौशाम्बी की परिस्थितियों की सूचना भी बिना किसी दुराव या छिपाव के बिम्बसार को देता है। पद्मावती का संकट, विरुद्धक का विद्रोह, बन्धुल की हत्या, अजात का आक्रमण और प्रसेनजित् की पराजय आदि के समाचार वह अपने स्वामी से बिना ननुनच के बतला देता है। इसमें उसका उद्देश्य स्वामी को परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान करा देना है। जीवक कौशाम्बी की अपनी द्वितीय यात्रा में मगध पर कोशल और कौशाम्बी के सम्मिलित आक्रमण का रहस्य अवगत करता है।

राजदूत का कार्य्य अत्यन्त उत्तरदायित्व का है। उसे परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर उसी के अनुसार व्यवहार करना पड़ता है तथा सम्वाद के आदान प्रदान में उसे अत्यन्त संयम, तत्पर बुद्धि और वाक्पटुता का आश्रय लेना पड़ता है, जिससे उसका अभीष्ट सिद्ध हो और स्वामी का अनिष्ट न हो। जीवक में दूतत्व के ये सब गुण वर्तमान हैं। कौशाम्बी की जटिल परिस्थिति का अनुभव कर वह अत्यन्त संयम से काम लेता है। कोशल में वह अपनी एक संक्षिप्त उक्ति में ही अपने स्वामी की दुरावस्था का चित्र खींच कर अपने अभीष्ट सिद्धि के लिए अनुकूल वातावरण पूर्णतया प्रस्तुत कर लेता है—'[illegible], कोई नया समाचार नहीं है। अपमान की यन्त्रणा दो महाप्रेमी प्राणियों को दुखित कर रही है, और कुछ नहीं।' जीवक

है इस प्रकार [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] [illegible] हुआ कर देता है। यहीं है [illegible] [illegible] की [illegible]।

[illegible] की [illegible] [illegible] भी [illegible] [illegible] है। [illegible] दोनों की प्रकृति में बहुत अन्तर है। प्रथम [illegible] की [illegible] है दूसरा [illegible] की [illegible] है। एक [illegible] के [illegible] के लिए देश विदेश की [illegible] [illegible] है तो दूसरा घर बैठे ही [illegible] [illegible] [illegible] करता है और [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] के [illegible] हैं—[illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होते हैं और [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] ने [illegible] [illegible] [illegible] कर दिया है, जिसका [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हो गया है।"

[illegible] [illegible] और [illegible] दोनों के [illegible] [illegible] का [illegible] [illegible] से भरे हैं। अतः यह [illegible] के दोनों [illegible] [illegible] से [illegible] हैं। [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] के द्वारा जीवन के [illegible] [illegible] [illegible] पहुँचाते हैं। [illegible] [illegible] की दृष्टि से इन दोनों [illegible] की जीवन के [illegible] [illegible] [illegible] ही [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] द्वारा [illegible] के जीवन में [illegible] [illegible] की सूचना भी दी गई है।

[illegible] ने [illegible] के [illegible] द्वारा हास्यविधान का प्रयास किया है। मेरे विचार से इसमें उन्हें यथेष्ट सफलता नहीं मिली। इसका प्रथम कारण तो यह है कि [illegible] के हास्य-विनोद का आधार जीवन [illegible] प्रवृत्ति का [illegible] है। यह [illegible] हास्य-विनोद में [illegible] नहीं देता है। वह उसकी हँसी की बातों को [illegible] [illegible] [illegible] हुआ अपने मतलब की बात उससे निकाल कर अपना [illegible] छुड़ाता है। इस प्रकार

वसन्तक का एकाङ्गी हास्य अपना सम्पूर्ण प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाता है।

वसन्तक द्वारा हास्य विधान की असफलता का दूसरा कारण हास्योत्पादक व्यापार का सर्वथा अभाव है। बेतुके एवं व्यतिक्रमपूर्ण कथोपकथन के साथ हास्यविधान के लिए तदनुरूप व्यापार भी आपेक्षित है। किसी बात के कहने का तभी प्रभाव पड़ता है जब उसके अनुरूप कुछ आचरण भी हो।

हास्यविधान में असफलता का मूल कारण 'प्रसाद' की दार्शनिक चिन्तन-शीलता है। उन्होंने इसके विधान का प्रयास मानों प्राचीन संस्कृत नाटकों के विदूपकों की परम्परा के निर्वाह रूप में किया है। उनकी स्वतः इस ओर विशेष प्रवृत्ति नहीं प्रतीत होती है। सम्भवतः हास्य का व्यापक चित्रण नाटक के गम्भीर दार्शनिक वातावरण के विरुद्ध भी पड़ता। इस दृष्टि से यह त्रुटि मार्जनीय है।

जनमेजय

'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक का नायक जनमेजय है। वह क्षत्रिय राजवंश में उत्पन्न इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति है। उसके चरित्र में दृढ़ता, पराक्रम, धैर्य, संयम, श्रद्धा, विनम्रता आदि विविध उदात्त गुणों का निदर्शन है। वह अपनी इन स्वभावज विशेषताओं के कारण नाटक का धीरोदात्त नायक है।

नाटक के आरम्भ में ही हमें उसकी विनम्रता, क्षमाशीलता, श्रद्धा और सहिष्णुता का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। पाखण्डी काश्यप के अनुचित आचरणों पर क्रुद्ध न होकर जनमेजय उसे समुचित दक्षिणा द्वारा संतुष्ट करने का प्रयत्न करता है। जनमेजय जिस श्रद्धा से ब्रह्मचारी उत्तङ्क का स्वागत अपनी राजसभा में करता है तथा वह जिस उत्सुकता से अपने गुरुकुल की बातें उत्तङ्क से पूछता है उससे उसके हृदय की सरलता और प्रकृति की उदारता तथा सौजन्य व्यक्त होते हैं। जरत्कारु ऋषि की अज्ञानवश निरपराध हत्या हो जाने से उसका अन्तःकरण क्षोभ और ग्लानि से भर जाता है। वह ऋषि की वेदना का अनुभव करता हुआ स्वगत कातर भाव से कहता है—"अनर्थ होगया। हाय रे भाग्य! व्याध से मृगया खेल कर हृदय बहलाने, यहाँ होगया महाहत्या का महा पातक! सर्वात्मे! मेरा अपराध कैसे क्षमा होगा!" जनमेजय के इस निरपराध कृत्य के कारण यद्यपि ब्राह्मणमण्डल, आरण्यक, परिषद् के सभ्यगण, कर्मचारी आदि उसकी अवहेलना एवं उपेक्षा करते हैं किन्तु वह, राज्यशक्ति का अनुचित प्रयोग कर, किसी का प्रतिकार नहीं करता है, अपितु उक्त कार्यों के दण्डविधान स्वरूप स्वयं ही अश्वमेध करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

जनमेजय में साहस और दृढ़ता है। वह प्रतिकूल परिस्थितियों से घवड़ाकर कर्त्तव्य-पथ से विमुख नहीं होता है। ब्राह्मणों के षड़यन्त्र से कुछ समय के लिए वह विचलित तो अवश्य होता है किन्तु उत्तङ्क की मन्त्रणा से शीघ्र ही कर्त्तव्य निर्धारित कर वह उसे पूरा करने के लिए कृत-संकल्प होता है—'अश्वमेध पीछे होगा, पहिले नागयज्ञ करूँगा।" इन यज्ञों के विधान से उसका पराक्रम भी प्रकट होता है।

नागों के विरुद्ध उसका द्वेष परम्परागत है। उसके पिता परीक्षित की हत्या नागों द्वारा हुई है। उसका स्मरण उसे सदैव रहता है। नाग परिणय करने वाली यादवी सरमा का तिरस्कार वह उसी द्वेष की प्रेरणा से करता है—'दस्यु महिला के लिए कोई आर्य्य न्यायाधिकरण में नहीं बुलाया जायगा।' × × × × 'चुप रहो! पतिता स्त्रियों को श्रेष्ठ और पवित्र आर्यों पर अपराध लगाने का कोई अधिकार नहीं है।' उसके इस कथन में जातीय अभिमान की भी झलक है।

नागों के दमन में जनमेजय जिस क्रूरता का निदर्शन करता है वह देशकाल और पात्र के अनुकूल है तथा परिस्थितिजन्य है। वर्बर नाग जाति दस्युवृत्ति ग्रहण कर हत्या और लूट आदि के द्वारा शान्त आर्य्य जनपदों को त्रस्त करती है। अतः नागों का कठोरता पूर्वक दमन करना राज्यधर्म के अनुसार सङ्गत है। क्रूर कर्मों की अवतारणा में भी जनमेजय का विवेक और उसके हृदय की स्निग्धता तथा कोमलता नितान्त कुण्ठित नहीं होते हैं। वह आस्तीक के प्रभावशाली व्यक्तित्व की मुक्तकण्ठ से सराहना करता है—"आश्चर्य कुमार! तुम्हारा मुखमण्डल तो बड़ा सरल है, फिर भी वह क्या कह रहा है। मैं किस लोक में हूँ?" वह आस्तीक का निवेदन बड़े ध्यान से सुनता है और अपने विवेक तथा न्याय बुद्धि का परिचय देते हुए वह उसके अनुरोध को स्वीकार करता है।

जनमेजय, आस्तीक की प्रार्थना को न्यायसङ्गत मान कर आज्ञा देता है—'छोड़ दो तक्षक को।'

जनमेजय केवल सैनिक या न्यायविधान करने वाला राजा ही नहीं है। सौन्दर्य और सुषमा से प्रभावित हो उसके प्रति आकृष्ट होने की सहज प्रवृत्ति भी उसमें है। नागकन्या मणिमाला के प्रति उसका आकर्षण उसके नैसर्गिक सौन्दर्य तथा अपूर्व सरलता के कारण है। प्रथम साक्षात्कार के अवसर पर शत्रु-कन्या होने के कारण वह उसका आतिथ्य तो नहीं ग्रहण करता किन्तु वह उसके सौन्दर्यपूर्ण सरल व्यक्तित्व से इतना प्रभावित होता है कि उसके सामने ही वह हठात् स्वीकार करता है—"मैं तो तुम सी नागकुमारी की प्रजा होना भी अच्छा समझता हूँ।" शत्रु-कन्या के समक्ष आत्मसमर्पण के इस भाव में जनमेजय के हृदय की निश्छलता और गुणग्राहकता प्रकट होती है। नाटक के अन्त में वह, सरमा के अनुरोध तथा अपनी परिणीता भार्या वपुष्टमा की स्वीकृति से, मणिमाला को पत्नी रूप में स्वीकार करता है। राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इस सम्बन्ध का परिणाम उभय पक्ष के लिए मङ्गलकारी है। नाग जाति और आर्य जाति इस सम्बन्ध के द्वारा राजनीतिक एकता के सूत्र में ही नहीं बँध जाती है, वरन् दोनों जातियाँ परस्पर सांस्कृतिक आदान प्रदान से एक दूसरे में सदा के लिए घुलमिल जाती हैं।

जनमेजय के चरित्र में एक त्रुटि खटकने वाली है। वह है, उसकी भाग्यवादिता। जनमेजय शक्तिशाली सम्राट् होकर भी नियति और प्रकृति के फेर में पड़ा प्रायः किंकर्तव्यविमूढ़ प्रतीत होता है। कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है कि वह सब कुछ करते हुये भी मानो स्वयं कुछ नहीं कर रहा है। 'प्रसाद' जी ने अपने नियतिवाद की ऐसी गहरी छाप उसके चरित्र पर लगा दी है कि

वह समय समय पर 'मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है' मन्त्रवत् जपा करता है और व्यास तथा उत्तङ्क की प्रेरणा से ही वह कर्म्मक्षेत्र में आता है। नियति पर अन्धविश्वास के कारण उसका व्यक्तित्व कुछ धुँधला पड़ गया है। पात्रों का व्यक्तित्व निजी और स्पष्ट होना चाहिए। उन पर नाटककार के स्वकीय सिद्धान्तों का आरोप अवांछित है।

तक्षक

नागराज तक्षक का चरित्र-चित्रण नायक के प्रतिपक्ष रूप में बड़ी सजीवता के साथ हुआ है। जातीय अपमान की ज्वाला से उसका सन्तप्त हृदय प्रतिहिंसा से निरन्तर प्रेरित रहता है। वह इसी की प्रेरणा से जीवन में अनेक अकाण्ड ताण्डव करता है। उसके अन्तःकरण की मूल प्रवृत्तियों का परिचय उसके नाटक में प्रवेश करते ही हमें मिलता है। वह स्वगतोक्ति द्वारा अपने मनोभावों को व्यक्त करता है—"प्रतिहिंसे! तू बलि चाहती है, तो ले, मैं दूंगा! छल, प्रवञ्चना, कपट, अत्याचार सब तेरे सहायक होंगे। हाहाकार क्रन्दन और पीड़ा तेरी सहेलियाँ बनेंगी।" तक्षक का समस्त जीवन इन्हीं भावों की यथार्थ अभिव्यक्ति है। वह उत्तङ्क की कपटपूर्ण क्रूर हत्या करना चाहता है। रानी वपुष्टमा का, वह अत्याचार द्वारा, अपहरण करने का उद्योग करता है। नागों को सङ्गठित कर दस्युकर्म द्वारा आर्य्य जनपदों में, वह हत्या और लूट आदि कार्यों से, आतङ्क उत्पन्न कर देता है।

तक्षक अपने विचारों को कार्य्यरूप में परिणित करने के लिए यथेष्ट कुशल है। वह प्रलोभन द्वारा काश्यप को अपनी ओर मिलाकर राजकुल की अनेक रहस्यपूर्ण बातें जान लेता है। दामिनी को अपने यहाँ आश्रय देकर वह, उत्तङ्क के कार्य्यों का प्रतिकार करने का अच्छा साधन प्राप्त करता है। वह ब्राह्मणों में भेद बुद्धि पैदा कर उन्हें भी अपनी ओर फोड़ लेने की सफल चेष्टा करता है।

मनुष्य स्वयं जिन विचारों का हामी होता है वह उसी प्रकार के विचार वाले व्यक्तियों का सम्बन्ध स्वीकार करता है। उसे अपने पराये का भी भेद इसमें मान्य नहीं होता है। तक्षक इसी कोटि का है। वह सरमा को अपने विचारों और कार्य्यों का विरोध करने के कारण ठुकरा देता है और उसकी हत्या तक करने को प्रस्तुत हो जाता है। तक्षक अपनी कन्या मणिमाला के प्रति स्नेह रखते हुए भी उसकी उपेक्षा ही करता है। उसकी प्रार्थनाओं की ओर वह कान नहीं देता है। आस्तीक के महान् व्यक्तित्व के प्रति उसकी कोई आस्था नहीं है। वह अपने विचारों के अनुकूल व्यक्तियों के प्रति ही ममत्व रखता है। मनसा और वासुकी के प्रति उसकी सच्ची श्रद्धा और आस्था है। ये लोग उसके मूल विचारों के समर्थक हैं अतः वह उनका प्रतिरोध भी स्वीकार करता है। सरमा की हत्या की चेष्टा में एक बार मनसा बीच में आकर उसे रोकती है और दूसरी बार वासुकि उसका प्रतिरोध करता है।

तक्षक में अपने विचारों के अनुरूप कार्य्य करने की दृढ़ता और साहस भी है। वह यज्ञ के घोड़े को बलपूर्वक पकड़वा लेता है और उसके परिणामस्वरूप युद्ध में साहसपूर्वक शत्रुओं का सामना करता है। बन्दी होकर भी वह जनमेजय के समक्ष प्राणभिक्षा नहीं मांगता है और न उसकी आधीनता ही स्वीकार करता है। वह निर्भीकतापूर्वक जनमेजय के समक्ष ही उसकी आलोचना करता है—"क्षत्रिय सम्राट् तुम क्रूरता में किसी से भी कम नहीं हो।"

नाटककार ने तक्षक के चरित्र में वास्तविकता की पूर्ण रक्षा की है। उसके चरित्र पर उनके आदर्शों का कृत्रिम आवरण नहीं है। उसका चरित्र निस्सन्देह अत्यन्त सजीव और प्रभावपूर्ण है।

उत्तंक

ब्रह्मचारी उत्तङ्क का जीवन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग में उसका छात्र जीवन है तथा दूसरा विद्याध्ययन के पश्चात् संसार में प्रवेश करने से आरम्भ होता है। छात्र जीवन में उत्तङ्क अपने युग के ब्रह्मचारी छात्रों के समान आदर्श चरित्रवान् है। अध्ययन में वह 'दार्शनिक प्रतिज्ञाएँ अपने सहपाठियों से भी विशेष शीघ्र समझता है। वह सांसारिक प्रलोभनों से भी सदैव दूर रहता है। गुरुपत्नी दामिनी अपनी कामवासना का नग्न चित्र उसके समक्ष रखती है। किन्तु वह आत्मसंयम द्वारा उनसे सदैव दूर ही रहता है। वह गुरुदक्षिणा, अपने प्राणों की बाजी लगाकर, अदा करता है। जनमेजय की सभा में वह जिस निर्भीकता और विनम्रता के साथ रानी के मणिकुण्डलों के लिए प्रार्थना करता है वह उसके साहस और सौजन्य का परिचायक है। उत्तङ्क को अपना 'सरल छात्र जीवन' अति प्रिय है और इसका निर्वाह वह आदर्श रूप में करता है।

उत्तङ्क अपने सांसारिक जीवन में चाणक्य के समान दृढ़-प्रतिज्ञ, कठोर एवं कुशल है। नाटक की प्रमुख घटना—नाग यज्ञ—उसकी ही प्रेरणा से प्रादुर्भूत होती है। उसके विधान में उत्तङ्क की कठोर कर्म भावना, और कर्त्तव्य दृढ़ता व्यक्त होती है। एक बार कुटिल नाग जाति के विनाश के लिए जब वह नागयज्ञ करना निश्चित कर लेता है तब बड़ी कठिनता से ही वह उससे विरत होता है। ब्राह्मणों द्वारा इस हिंसा मूलक यज्ञ का बहिष्कार किए जाने पर भी उत्तङ्क उससे पश्चात्पद नहीं होता है। वेद के

विरोध करने पर भी वह उनसे कहता है—"भगवन् य हतो मेर कर्त्तव्य है। कृपया इसमें बाधा न दीजिए।"

नागयज्ञ के विधान में उत्तङ्क जो प्रेरणा एवं सहयोग देता है उसमें नाग जाति के विरुद्ध उसकी व्यक्तिगत विरोध भावना के अतिरिक्त समष्टि की कल्याण भावना भी सुनिहित है। रानी वपुष्टमा जब उससे पूछती है—"यह सब करने पर भी क्या होगा?" तब उत्तङ्क इस यज्ञ का लोक मङ्गलकारी स्वरूप प्रकट करते हुए उसे बताता है—'राष्ट्र तथा समाज के शासन को दृढ़ करना ही इसका एक मात्र उद्देश्य है।" लोकपीड़क नागों के दमन द्वारा ही राष्ट्र और समाज की दृढ़ता और उसका मङ्गल सम्भव है। अतः उसका उक्त कार्य्य हिंसा मूलक होते हुए भी समीचीन है।

उत्तङ्क के स्वभाव में निर्भीकता, साहस, दृढ़ता और कर्त्तव्य-निष्ठा पूर्णरूप से विद्यमान है। मणिकुण्डल प्राप्त करना दुस्साध्य कार्य्य है। किन्तु वह उसके लिए सहर्ष तैय्यार हो जाता है। यह उसकी कर्त्तव्य-निष्ठा का प्रबल प्रमाण है। जनमेजय के यहां से मणिकुण्डल लेकर आते हुए तक्षक मार्ग में उसे बलपूर्वक छीन लेने का प्रयत्न करता है। वह उत्तङ्क का वध करने के लिए छुरी निकाले हुए उसके सामने खड़ा है किन्तु वह भयभीत नहीं होता है। वह तक्षक को अपने आत्मबल और ब्रह्मबल के आधार ललकारता है—"यदि ब्राह्मण हूँगा, यदि मेरा ब्रह्मचर्य्य और स्वाध्याय सत्य होगा तो तेरा कुत्सित हाथ चल ही न सकेगा। हत्याकारी दस्यु को यह अधिकार ही नहीं कि वह ब्रह्मतेज पर हाथ चला सके। पाखण्डी तेरा पतन समीप है।" उत्तङ्क कोरी धमकी देने वाला ही नहीं है। वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहता है और अपने उत्साहपूर्ण वचनों से वह जनमेजय को किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता के गर्त से बाहर निकालता है। अन्त में नागयज्ञ के विधान द्वारा वह अपना प्रतिशोध पूर्णतया लेता है।

भावावेष में किसी व्यापार का अतिवाद श्रेयस्कर नहीं है। वह हृदय की दुर्बलता का द्योतक है। उत्तङ्क नागयज्ञ के विधान में हृदय की उत्तेजना से प्रवृत्त होता है। इस कार्य्य में उसकी दृढ़ता एवं कुशलता चाहे भले ही व्यक्त होते हों किन्तु पुनीत मानवता की दृष्टि से वह गिर जाता है। दामिनी उसे इसी का संकेत करती है—"हृदय है। तब तो तुम उसकी दुर्बलता से और भी भली भाँति परिचित होगे। ×××× हृदय के अतिवाद से वशीभूत होने का मुझसे बढ़कर कोई उदाहरण न मिलेगा।" बुद्धिमान पुरुष के लिए संकेत ही पर्य्याप्त है। दामिनी के उक्त कथन से उत्तङ्क का सोया हुआ विवेक जाग्रत होता है और वह उस क्रूर हिंसापूर्ण कार्य्य से पृथक हो जाता है।

उत्तङ्क के चरित्र का विकास परिस्थितिजन्य मानव मनोवृत्तियों पर आश्रित है। उसमें जीवन का उत्थान और पतन चित्तवृत्ति के ऊँचे और नीचे होने के साथ है। अतः उसमें पूर्ण स्वाभाविकता है। उत्तङ्क के जीवन चरित्र से यह भी प्रकट होता है कि मनुष्य का एक ही कार्य्य किसी एक दृष्टिकोण से समीचीन होने पर भी व्यापक दृष्टि से सर्वथा स्तुत्य नहीं होता। नागयज्ञ के विधान में लोकमङ्गल का भाव चाहे भले ही निहित हो किन्तु शाश्वत मानवता की दृष्टि से वह श्लाघ्य नहीं है। नाटककार ने उत्तङ्क के चरित्र चित्रण में स्वाभाविकता का निर्वाह करते हुए आदर्श की प्रतिष्ठा प्रकृत रूप में की है और इसमें उसे यथेष्ट सफलता भी मिली है।

काश्यप

काश्यप राज—पुरोहित है। वह एक समादरणीय पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी उसके उपयुक्त सिद्ध नहीं होता है। संतोष वृत्ति का उसमें सर्वथा अभाव है। ब्राह्मणोचित अन्य गुण यथा प्रेम, सद्भाव, विश्व-कल्याण भावना आदि भी उसमें नहीं है। काश्यप के पतन और विनाश के मूल में प्रधान रूप से उसकी असंतोष वृत्ति है। काश्यप विकट अर्थलोभी है। अर्थलिप्सा के वशीभूत होकर वह नीच से नीच कार्य्य करता है। वह ब्राह्मणों को जनमेजय के विरुद्ध भड़काता है। इसमें उसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणों के विद्रोह करने से जनमेजय अश्वमेध-यज्ञ करने के लिए बाध्य हो और उसे उस यज्ञ के विधान में लम्बी दक्षिणा मिले। लोभ की सहचर मनोवृत्ति ईर्षा भी काश्यप में है। जनमेजय उत्तङ्क को मणिकुण्डल देता है। उत्तङ्क को इतनी बहुमूल्य वस्तु प्राप्त करते देख उसे ईर्षा होती है और उन कुण्डलों के प्रति उसका लोभ सजग होता है। वह तक्षक के पास जाकर उसके द्वारा उत्तङ्क से मणिकुण्डल छिनवाने का प्रयत्न करता है। काश्यप को, धन, अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा है। प्राणसंकट प्रत्यक्ष देखकर भी वह प्राणों की उतनी चिन्ता नहीं करता है जितना अपने धन की। कानन में तक्षक आदि के साथ मन्त्रणा करते हुए जब वह जनमेजय की सेना द्वारा घिर जाता है तब वहाँ से भागते समय वह अपने धन के मोह में बुरी तरह फंसा दिखाई पड़ता है। वह कहता है—"हाय रे! यहीं मेरा सारा धन है।"

काश्यप कुटिल और दुर्विनीत है। वह अपने महत्व के मिथ्या दम्भ के कारण विद्वान और गुणियों की उपेक्षा करता

है। वह उनके प्रति बड़े अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करता है। उत्तङ्क का वह अकारण ही अनादर करने की चेष्टा करता है, तथा साथ ही उसके विद्वान् गुरु वेद पर भी भद्दे आक्षेप करता है।

जनमेजय की सभा में उत्तङ्क से वह कहता है—'जैसा गुरु है वैसे ही तुम भी हो। न बोलने की पद्धति, न विधि विहित शिष्टाचार। क्या वेद ने तुम्हे यही पढ़ाया है।' इसी प्रकार विद्वान कर्मकाण्डी एवं निस्पृह याज्ञिक तुर कावपेय के लिए भी वह बड़े अपमानयुक्त वचनों का प्रयोग करता है। वह तुर से कहता है—"मैं कौरवों का कर्मकाण्ड कराते कराते बुड्ढा होगया किन्तु तुम्हारे समान लफङ्गा इस राजसभा में आजतक न देखा।"

काश्यप आदर्श और सिद्धान्तहीन व्यक्ति है। प्रचुर दक्षिणा प्राप्ति की आशा से वह प्रकट रूप में जनमेजय से आकर मिलता है और ऐन्द्राभिषेक की सम्पूर्ण दक्षिणा स्वयं डकार जाता है। बाद में जब वह तक्षक से जा मिलता है तो शौनक उसके स्थान पर पुरोहित नियुक्त किया जाता है। काश्यप इसी बात से जनमेजय से रुष्ट होकर उसका सर्वत्र विरोध करने लगता है तथा वह उसकी स्त्री के अपहरण का षड्यन्त्र रचवाता है। जनमेजय से बदला लेने के लिए वह तक्षक से मिल जरूर जाता है किन्तु तक्षक के प्रति भी उसका भाव सर्वथा निश्छल और कपटहीन नहीं है। तक्षक की चेतावनी की उपेक्षा करता हुआ वह उसकी पीठ पीछे कहता है—'मरो कटो मुझे क्या ! घात चल गई तो हँसूगा, नहीं तो कोई कोई चिन्ता नहीं।"

काश्यप प्रकृतिसिद्ध नीच मनोवृत्तियों का है। अतः कभी भी उसके हृदय में सात्विक भाव का उदय नहीं है और न कपटाचरण और क्रूर व्यवहार करते हुए या करने के पश्चात् उसे आत्मग्लानि

की अनुभूति ही होती है। अतः उसे इस संसार में कुछ अर्थलाभ होने के अतिरिक्त और किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है। वह मानवता के स्तर से क्रमशः गिरता ही जाता है। अन्त में वपुष्टमा के अपहरणकाल में एक नाग द्वारा उसकी हत्या होती है जो आदर्शवादी दृष्टिकोण सर्वथा सङ्गत है। लोकादर्शों की रक्षा के लिए ऐसी पापात्माओं का यह परिणाम परमावश्यक एवं उपादेय है।

आस्तीक

आस्तीक के पिता जरत्कारु ऋषि तथा माता नागकन्या मनसा हैं। इस प्रकार उसके शरीर में आर्य और नागरक्त का मिश्रण है। किन्तु उसके हृदय में किसी एक के लिए पक्षपात तथा दूसरे के प्रति द्वेष नहीं है। अन्य ऋषियों के ही समान वह शान्त, स्निग्ध एवं विश्व-कल्याण का इच्छुक है। उसमें नागों की भी क्रूरता या कुटिलता नहीं है। आस्तीक अपनी विवेकपूर्ण निर्मल बुद्धि द्वारा आर्यों और नागों के पारस्परिक संघर्ष भाव को अवगत कर लेता है और दोनों में मेल कराना ही अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है। वह माणवक से कहता है—"किन्तु भाई हमलोगों का कुछ कर्त्तव्य भी है। दो भयङ्कर जातियाँ क्रोध से फुफकार रही हैं। उनमें शान्ति स्थापित करने का हमने बीड़ा उठाया है।"

आस्तीक जीवन के प्रारम्भ में ही दार्शनिक बुद्धि सम्पन्न हो जाता है। वह मणिमाला से कहता है—"क्यों मणि यह सब क्या है? इसका कुछ तात्पर्य्य भी है या केवल कुहुक है?" उसकी इस दार्शनिक बुद्धि के मूल में सद्शिक्षा एवं शैशवकाल में ही पिता और माता की स्नेह छाया से उसका सर्वथा वञ्चित हो जाना है। उसके पिता जरत्कारु ऋषि की जनमेजय द्वारा आखेट में धोखे से हत्या हो जाती है तथा उसकी माता मनसा भी उसे त्याज्य पुत्र घोषित कर देती है। अतः विश्व की जटिलताओं का प्रत्यक्षीकरण उसे बाल्यजीवन में ही हो जाने के कारण उसके हृदय में सात्विक बुद्धि और विवेक का स्फुरण हो जाता है। वह मणिमाला से कहता है—"रोना और हँसना ये ही तो मानवी सभ्यता के आधार

हैं। आज मेरी समझ में यह बात आगई कि इन्हीं के साधन मनुष्य की उन्नति के लक्षण कहे जाते हैं।"

आस्तीक विश्वमञ्च पर महान् उद्देश्य और आदर्शों को लेकर अवतरित होता है। उसके मार्ग में अनेकानेक कठिनाइयाँ हैं किन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उसमें अपने उद्देश्य को प्राप्त करने की दृढ़ता है। उसका कोई भी सजातीय उसे सहायता देने वाला नहीं है। नागों की हिंसक वृत्ति के शमन करने के प्रयास में उसकी माता ही उसका विरोध करती है और उसकी कठोर भर्त्सना कर उसे त्याग देती है। आस्तीक कर्मवीर है। वह अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता है तथा एक बार विचलित होने पर भी वह माता के सामने ही प्रतिज्ञा करता है—"तलवार लेकर तो नहीं पर यदि हो सका तो मैं दूसरे प्रकार से यह विवाद मिटाऊँगा। इस क्रोध की बाढ़ में मैं बाँध बनूँगा, चाहे फिर मैं ही क्यों न तोड़कर बहा दिया जाऊँ।" आस्तीक का यह कथन कोरा प्रलाप नहीं है, वरन् उसमें आत्मविश्वास, दृढ़ता, और निर्भीकता की स्पष्ट झलक विद्यमान है।

सुशिक्षा के प्रभाव से आस्तीक शीलवान है। उसकी माता यद्यपि अपने प्रमाद से ही उसे अपना त्याज्य पुत्र घोषित कर उससे सम्बन्ध विच्छेद करती है किन्तु आस्तीक की मातृभक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। वह शीलवश अपनी माता को दोषी नहीं मानता है वरन् उसके रोष के मूल में अपना ही अपराध देखता है। व्यास के समक्ष इसी की प्रेरणा से वह आत्मग्लानि व्यक्त करता है—"भगवन् ! मैं मातृ-द्रोही होगया हूँ। मैंने माता की आज्ञा नहीं मानी। मेरे सिरपर यह एक भारी अपराध है।" व्यास के उपदेशों से उसकी ग्लानि दूर होती है।

आस्तीक एक [illegible] पुरुष है। व्यास के कथनानुसार 'इसका आविर्भाव किसी विशेष कार्य के लिए हुआ है।' वह

वासुकि

वासुकि, नागकुल अभिजात होने पर भी, नागों के समान स्वभावतः कुटिल, क्रूर और हिंसाप्रिय नहीं है। वह नागों और आर्य्यों में मेल कराने का पक्षपाती है और उसके लिए चेष्टा करता है। वह आस्तीक के समान शान्ति का अस्त्र लिए सर्वत्र विचरण तो नहीं करता किन्तु फिर भी उसके आचरणों में मर्य्यादा का भाव और संयम है। वह केवल जातीयता की भावना से प्रेरित होकर नागराज तक्षक का सहकारी है किन्तु फिर भी वह उसकी अकारण क्रूरताओं और कपटाचरणों में उसका साथ नहीं देता है।

वासुकि में विवेक और मनुष्यता है। वह निरीह और निरपराध व्यक्तियों की विश्वासघातयुक्त हत्या का समर्थन नहीं करता तक्षक, जब उत्तंक और सरमा पर प्रहार कर उनका अन्त करने को उद्यत होता है तब वासुकि ही बीच में पड़कर उनकी रक्षा करता है। वह तक्षक से कहता है—"नागराज! सरमा और उत्तंक मुक्त हैं। वे जहाँ चाहें, जा सकते हैं।" वासुकि के इस कथन से उसके व्यक्तित्व की स्वतंत्रता भी प्रकट होती है।

वासुकि में जातीय गौरव और स्वामिभक्ति की भावना पूर्णरूप से विद्यमान है। वह अपने नायक का पराभव और जाति की दुर्दशा सहन नहीं कर सकता। वह साहसी और दृढ़ स्वभाव वाला है। तक्षक और मणिमाला के बन्दी हो जाने पर वह घोषणा करता है—"चलो वीरो! जो लोग युद्ध के योग्य हैं वे सब एक बार निर्वाणोन्मुख दीप की भाँति जल उठें। यदि औरों को जला न सकेंगे तो स्वयं ही जल जाँयगे।" वह 'मरण के डर से कलंकित जीवन बचाने का दुस्साहस' करना असम्भव मानता है। उसमें

वैयक्तिक सम्मान और दाम्पत्य जीवन की रक्षा के लिए आत्मत्याग की आदर्श भावना निर्विवाद रूप से वर्तमान है।

वासुकि के लिए सरमा के साथ दाम्पत्यजीवन निर्वाह एक समस्या है। दोनों ही परस्पर जीवन सहचर होते हुए परस्पर जीवन मार्ग में भिन्न हैं। सरमा नागों की क्रूरता और कुटिलता के कारण उनसे दूर भागती फिरती है। वासुकि जातीय प्रेम से सदैव अनुप्राणित है और वह उनके लिए आत्मोत्सर्ग के लिए भी सदैव प्रस्तुत रहता है। सरमा और वासुकि के दृष्टिकोण में परस्पर विभिन्नता होते हुए भी अनुरागभाव दोनों में है। सरमा यदि प्रभास के विषय में वासुकि पर क्रुद्ध होकर अपनी इच्छा से चली आई तो वासुकि भी उनके जीवन और सम्मान की रक्षा के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। वह तक्षक के हाथों से सरमा की हत्या नहीं होने देता है तथा सरमा के सम्मान रक्षा के लिए वह प्रतिश्रुत होता है। सरमा के साथ अनुकूल दाम्पत्यजीवन निर्वाह का श्रेय वासुकि को ही है। वासुकि नागों के संपर्क में रहकर भी अपना चरित्र गिरने नहीं देता है और उसका व्यक्तित्व समष्टिरूप में सराहनीय है।



माणवक

माणवक एक कल्पित पात्र है। नाटक की प्रधान घटनाओं एवं प्रमुख पात्रों से उसका विशेष सम्पर्क नहीं है। नाटककार ने इसके चरित्र में एक तिरस्कृता नारी के आश्रय विहीन पुत्र का दयनीय चित्र अंकित किया है।

माणवक के चरित्र का विकास, जीवन की अंधकार पूर्ण परिस्थितियों में होता है। उसकी माता सरमा का पतिगृह में तिरस्कार होता है अतः वह भी अपनी माता के साथ ही अपने पिता के वैभव को ठुकरा कर चला आता है। आर्य्यजनपद में भूख लगने पर यज्ञशाला का घी खाने के अपराध में उस पर मार पड़ती है। न्यायालय में उसकी सुनवाई भी नहीं होती है। उसकी माता को नागपरिणय के कारण वहाँ भी अपमानित होना पड़ता है। माणवक का हृदय क्षोभयुक्त होकर विद्रोही हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में उसके मानस में प्रतिहिंसा का स्फुरण होना स्वाभाविक है। वह अपनी माता से कहता है—"मुझे आज्ञा दो। मैं मनसा के हाथों का विषाक्त अस्त्र बनूँ; उसकी भीषण कामना का पुरोहित बनूँ। क्रूरता का ताण्डव किए बिना न जी सकूँगा।"

माणवक अपनी माता का अनन्यभक्त है। वह जिस प्रकार उसके साथ अपने पिता का वैभव सुख छोड़कर पेट की ज्वाला सहता हुआ तथा दर दर की ठोकरें खाता हुआ घूमता है उसी प्रकार वह माता की प्रत्येक आज्ञा के सामने सिर झुका कर उनका आजीवन पालन करता है। वह माता की इच्छा और आदेश के सामने अपने व्यक्तिगत विचारों का बलिदान करता है। सरमा उसकी प्रतिहिंसक

मनोवृत्ति को प्रोत्साहित नहीं करती है। वह मानवक की प्रतिहिंसक मनोवृत्ति का विरोध करती हुई उसे समझाती है—"हत्या! तू सत्ता का भूखा होकर गुप्त रूप से हत्या करना चाहता है; पर मैं यह कलंक नहीं सह सकती।" मानवक के जीवन में अनेक अवसर आते हैं जब वह अपने विचारों को कार्य रूप में परिणित कर सकता, किन्तु उसकी माता के उपर्युक्त शब्द मानों उसके कर्ण कुहरों में सदैव गूंजते रहते हैं और वह अपने मनोरथों को दबा देता है। दामिनी उससे तक्षक के साथ अथवा जनमेजय आदि के विरुद्ध अपना प्रतिशोध लेने के लिए उत्तेजित करती है। मानवक के हृदय में द्वन्द्व छिड़ता है। प्रतिशोध का भाव उसके हृदय में है। वह संसार का एक ऐसा तिरस्कृत और उपेक्षित प्राणी है जो सर्वत्र ठोकरें खाता फिरता है। किन्तु वह फिर भी दामिनी का साथ नहीं देता है और उसे भी उस पथ पर अग्रसर होने से रोकता है। रानी वपुष्टमा के अपहरण के समय वह उपस्थित है। वह चाहता तो उसे पकड़ कर नागों के हाथ सौंप देता। किन्तु उसने अपनी माता के सदुपदेशों से यह अनुभव कर लिया है कि "क्षमा से बढ़कर और किसी बात में पाप को पुण्य बनाने की शक्ति नहीं है।" अतः वह माँ की आज्ञा नहीं टालता और अपनी जान पर खेल कर नागों के चंगुल से वपुष्टमा को बचाता है। वह उसे व्यास के निरापद आश्रम में ले जाकर उसके जीवन और मर्यादा की रक्षा करता है। मानवक की मातृ-भक्ति अटल है। उसका समस्त जीवन उससे अनुप्राणित है। उसके आलोक में ही मानवक के हृदय में परिस्थिति-जन्य दुर्वृत्तियाँ भी दब जाती हैं और वह लोकसंहारक के रूप में नहीं वरन् लोक-हितकारी के रूप में ही दिखाई पड़ता है।

सरमा

यादवी सरमा का चरित्र उत्थान, पतन, परिवर्तन, तथा आशा और निराशा की एक मनोरंजक एवं मर्मस्पर्शिणी करुण कहानी है। प्रभासक्षेत्र में अर्जुन के साथ जाते हुए वह नागों तथा आभीरों द्वारा अपहृत हुई। नागराज वासुकि पर मुग्ध होकर उसने उसका वरण किया। किन्तु नागकुल में जातीय अपमान की ज्वाला के अतिरिक्त उसे कुछ नहीं मिलता है। मनसा के विपाक्त व्यंग्यों से वह क्षुब्ध होती है। 'सब ते कठिन जाति अपमाना', गोस्वामी जी की इस उक्ति के अनुरूप जातीय अपमान असह्य होने पर वह मानों मनसा के अनर्गल प्रलाप के कारण उसके मुँह पर थप्पड़ मारती हुई नागकुल का परित्याग कर चल देती है। नागकुल का परित्याग करती हुई वह मनसा को जो मुँह तोड़ उत्तर देती है उसमें उसका स्वाभिमान कूट कूट कर भरा है। सरमा कहती है—"मनसा, मैं व्यंग्य सुनने नहीं आई हूँ! × × × × यह समझ रखना कि कुक्कुर वंश से यादवों की यह कन्या सरमा किसी के सिर का बोझ और अकर्मण्यता की मूर्ति होकर नहीं आई है। इस वक्ष-स्थल में अबलाओं का रुदन ही नहीं भरा है।" वह फिर कहती है—"मैं अपने सजातियों के चरण सिर पर धारण करूँगी, किन्तु इन हृदयहीन उद्दंड-बर्बरों का सिंहासन भी पैरों से ठुकरा दूँगी।" सरमा के उपरोक्त कथन में स्वाभिमान के साथ निर्भीकता और स्वावलम्बन की भावना भी व्यक्त होती है।

सरमा स्वाभिमानिनी और निर्भीक है किन्तु उसके हृदय में प्रतिहिंसा का कलुषित भाव नहीं है। वह उपेक्षा और तिरस्कार को भी शान्ति पूर्वक ग्रहण कर लेती है और तिरस्कार करने वाले के प्रति-

उसके हृदय में प्रतिकार की भावना नहीं आती है। जनमेजय उसके पुत्र सारमेय के साथ अन्याय करने वालों के विरुद्ध कोई दण्ड विधान करने का यत्न नहीं होता है। वह उल्टा सरमा की ही भर्त्सना करता है—'चुप रहो पतिता स्त्रियों को श्रेष्ठ और पवित्र आर्यों पर अपराध लगाने का कोई अधिकार नहीं। ×××× जाओ सरमा ! तुमको लज्जित होना चाहिए।' इस प्रकार दारुण अपमान की यन्त्रणा से बिलखकर भी सरमा अवैध उपाय द्वारा उसका प्रतिकार नहीं करना चाहती। उसका पुत्र सारमेय उसे उत्तेजित करता है—"माँ, मेरे हृदय में दारुण प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक रही है। पददलितों के ये अश्रु विलोचन शरों की तरह लग रहे हैं। माँ, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो। मैं पिता के पास जाऊँगा। मुझे आज्ञा दो। ××××" सरमा के धैर्य और विवेक की कठिन परीक्षा का यह अवसर है। असाधारण हृदय ही ऐसी परिस्थिति में अपने को सम्हाल सकता है। सरमा इस अति परीक्षा में पूरी सफल होती है। वह सारमेय के गुप्त-हत्या प्रस्ताव को अस्वीकार कर, धैर्य पूर्वक परिस्थितियों का सामना करने के लिए उसे साहस प्रदान करती है।

सरमा में समत्व बुद्धि की प्रधानता है। वह शत्रु का अपकार न कर, अपने उपकारों द्वारा उसका हृदय परिवर्तन करती है। और उसका विवेक जाग्रत करती है। वपुष्टमा राजसभा में उसका अपमान करती हुई कहती है—'छिः आर्य ललना होकर नागजाति के पुरुष से विवाह किया ! तभी तो यह लाञ्छना भोगनी पड़ती है।" सरमा अपमान की इस कड़वी घूँट को पीकर, कलिका दासी के रूप में वपुष्टमा की परिचर्या करती हुई नागों द्वारा उसके अपहृत होने पर उसके जीवन और सतीत्व की रक्षा करती है। सरमा की इस महान् विजय को वपुष्टमा स्वयं स्वीकार करती है—"बहिन सरमा, मुझे क्षमा करो। मैंने तुम्हारा बड़ा अनादर किया था। आज मुझे

तुम्हारे सामने [illegible] लज्जा आती है। तुमने युद्ध कर जो विजय पाई है, वह अकल्याणीय है।" "इसी प्रकार यद्यपि मनसा प्रमादवश सरमा का खुला अपमान करती है तथा [illegible] मारने को उद्यत होता है किन्तु यह सरमा की यह [illegible] है—"मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि युद्ध में नागों का कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा।" निस्सन्देह सरमा नागकुल की निरन्तर मंगल कामना करती है और अन्त में उसी के प्रस्ताव से जनमेजय और नागकन्या मणिमाला का विवाह हो जाने पर नागकुल शाश्वत कल्याण का भागी होता है।

विपत्तियों के वात्याचक्र में पड़कर भी सरमा असीम साहस और धैर्य्य द्वारा अपनी जीवन नौका विश्व-महासागर में सफलता पूर्वक खेने की अपूर्व क्षमता रखती है। वह पति सुख से वंचिता है; पुत्र भी उसका साथ छोड़कर चला जाता है। स्वजातीय एवं पतिकुल के लोग उसकी उपेक्षा करते हैं। वास्तव में उसे विश्व में अपना कोई नहीं दिखाई पड़ता है। नाटककार ने उसकी मनोव्यथा का स्वल्प दिग्दर्शन उसकी एक स्वगतोक्ति द्वारा कराया है। माणवक के चले जाने पर वह अत्यन्त व्यथित हृदय से कहती है—"चला गया। हाय रे जननी का हृदय! मैं सब ओर से गई। अन्धकार पूर्ण शून्य हृदय इसमें सैकड़ों बिजलियों से भी प्रकाश न होगा।" जीवन की नैराश्यपूर्ण विपन्नदशा में भी उसका कर्त्तव्य ज्ञान सदैव सचेष्ट रहता है। तक्षक सोते हुए उत्तंक की हत्या करना चाहता है किन्तु सरमा झपट कर उसका हाथ पकड़ लेती है। और उत्तंक को मरने से बचा लेती है। वह नागकुल में रहकर भी नागों की कुटिल नीति का समर्थन नहीं करती। काश्यप, ब्राह्मणों को लेकर तक्षक के साथ जनमेजय के विरुद्ध विप्लव की मंत्रणा करता है। सरमा ऐसे पोच कार्य्यों का निर्भीकता पूर्वक खुला विरोध करती है। वह अपने प्राणों का भी मोह न कर तक्षक के सामने ही काश्यप को फटकारती है—"फिर भी

एक दस्युदल को उसका स्थानापन्न बनाना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। धर्म का ढोंग करके, एक निर्दोष आर्य्य सम्राट् को अपने चंगुल में फँसा कर, उसके पतित होने की व्यवस्था देना जिससे वह राज्यच्युत कर दिया जाय, क्या उचित है ?" सरमा की इस उक्ति में उसकी आत्मस्वतंत्रता की पूर्ण झलक है। वह अपना सब कुछ त्याग कर भी इसे अपनाए रहती है।

सरमा का दाम्पत्य प्रेम भी अपने ढंग का अपूर्व है। यादवी सरमा ने नागराज वासुकि पर मुग्ध होकर परिणय किया। वह इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित विश्वमैत्री और साम्यभाव से भी अनुप्राणित हुई। नागकुल में अपमान यन्त्रणा से प्रताड़ित होने पर जब वह उसका परित्याग करती है तब भी उसका पतिप्रेम कम नहीं होता। वह अपने पत्नी भाव का त्याग नहीं करती है तथा वह जनमेजय के यहाँ भी स्वीकार करती है "मैंने अपनी इच्छा से नाग परिणय किया।" जब वासुकि, तक्षक से सरमा की रक्षा कर, उससे अपने साथ चलने का आग्रह करता है तब वह उसकी प्रार्थना ठुकरा नहीं देती वरन् स्वातन्त्र्य रक्षा का वचन लेकर वह उसके साथ पुनः नागकुल में सम्मिलित होती है। सरमा केवल स्वाभिमान-वश ही अपने पति से अलग है। वह पति स्नेह में तो सर्वथा अभिन्न है। पति को कष्ट में पड़ा हुआ देखकर उसका नारी हृदय हाहाकार कर उठता है। वासुकि जब जनमेजय की सेना से एक बार घिर जाता है तब सरमा का पतिप्रेम मर्य्यादा का बाँध तोड़कर मानों फूट निकलता है—"देवता ! तुम संकट में हो, यह सुनकर भला मैं कैसे रह सकती हूँ। मेरा अश्रुजल समुद्र बनकर तुम्हारे और शत्रु के बीच गर्जन करेगा; मेरी शुभ कामना तुम्हारा वर्म बनकर तुम्हें सुरक्षित रखेगी ! तुम्हारे लिए अपमानित सरमा राजकुल में दासी बनेगी।" पति की कल्याण कामना से प्रेरित होकर ही सरमा वपुष्टमा

की कलिका नामधारिणी दासी बनती है और उसे सब प्रकार के संकटों से बचाती है। सरमा का दाम्पत्यप्रेम भारतीय परम्परा के अनुकूल है। भारतीयनारी एक बार जिसे अपना पति चुन लेती है उसके लिए आत्मोत्सर्ग करने में अपना परम सौभाग्य मानती है। सरमा का पति प्रेम गंभीर और अभिन्न है। सरमा के चरित्र में नाटककार ने एक ऐसी आदर्श नारी का चरित्र प्रस्तुत किया है कि जो जीवन की प्रतिकूल दशाओं में भी अपने पवित्र उद्देश्यों पर स्थिर रहती है। वह जीवन में अनेक कष्ट अपमान आदि को सहती हुई विश्व-मैत्री और साम्य के आदर्श का मनसावाचा कर्मणा सतत पालन करती है। अन्त में उसके पावन चरित्र की महत्ता से प्रभावित हो उसके शत्रु भी उसके आगे सिर झुकाते हैं और वह सबकी श्रद्धा का पात्र बनती है। सरमा का चरित्र निस्सन्देह अत्यन्त गौरवपूर्ण है। वह लोक व्यवहारों के बीच अपने अपने अलौकिक व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ती हुई नाटकीय वातावरण को स्वर्गीय सुषमा से विभूषित करती है।

मणिमाला

मणिमाला का जन्म नागकुल में है। वह नागराज तक्षक की कन्या है। किन्तु उसका शिक्षण और चारित्रिक विकास आर्य्य तपोवन में होता है। अतः उसके हृदय पर नाग-संस्कृति के स्थान पर आर्य्य-संस्कृति का विशेष प्रभाव है। वह करुणा, विश्व-प्रेम, उदारता आदि सात्विक भावों से ओत-प्रोत है। मणिमाला भावुक भी है। प्रकृति के नाना दृश्यों और उपादानों में उसकी वृत्ति रमती है और उनसे वह जीवन के लिये सुन्दर आदर्श ग्रहण करती है।

शिक्षा के प्रभाव से मणिमाला अपने आदर्शों को कार्य्य रूप में परिणित करने के लिए तत्पर रहती है। अतिथि सेवा, विपन्न रक्षा, घायलों की सेवा आदि विविध कार्य्यों में वह सोत्साह संलग्न रहती है। जनमेजय से वह बारम्बार आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध करती है—"स्वागत! माननीय अतिथि आपको इस गुरुकुल का आतिथ्य अवश्य ग्रहण करना चाहिये। नहीं तो कुलपति सुनकर हम लोगों पर रुष्ट होंगे।" अश्वसेन के हाथों से वह दामिनी के सतीत्व की रक्षा करती है। वह अश्वसेन को उसकी कामुक चेष्टाओं के लिए भरपेट कोसती है—'भइया, तुम एक दुर्बल रमणी पर अत्याचार करोगे? मुझे स्वप्न में भी इसका अनुमान न था। मेरे पिता जी की सन्तान होकर तुम ऐसी नीचता करोगे। हाय! नागकुल में ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए तभी तो उसकी यह दशा है।" मणिमाला, युद्ध और संघर्ष को सदा प्रोत्साहन देने वाली मनसा की, व्यंग्यात्मक शब्दों द्वारा लम्बी खबर लेती है और युद्ध के प्रति उसके हृदय में विरक्ति उत्पन्न करा कर वह उसी के साथ घायलों की शुश्रूषा में प्रवृत्त होती है।

मणिमाला का समस्त जीवन विश्वमैत्री से अनुप्राणित है। ी प्रेरणा से वह मनसा को उत्तेजनात्मक कार्यों से विरत करती (अपने पिता से भी युद्ध व्यापार बन्द कर देने का अनुरोध है। वह अपने पिता से कहती है—"पिता जी जब कि आर्यों र उपद्रव करना बन्द कर दिया है और वे एक दूसरे रूप में के अभिलाषी हैं; तब फिर आप युद्ध के लिए क्यों उत्सुक हैं ?"

मणिमाला कायर नहीं है। संकटपूर्ण समय के उपस्थित होने ह साहस के साथ उसका सामना करने के लिए प्रस्तुत रहती उसके पिता ने राजमहिषी वपुष्टमा के अपहरण का दुष्कर ोजन किया है। विपत्ति की आशंका से मणिमाला मुँह छिपा नहीं बैठती। वह पिता को बचाने के लिए पूर्ण साहस और त्साह के साथ तत्पर होती है। आस्तीक से वह कहती है— ीं, मैं तो आज उपद्रव में कूद पड़ूंगी। क्यों भाई, क्या तुम्हें ाणियों की दुर्बलता ही विदित है; उनका साहस तुमने नहीं सुना।" ाणमाला योद्धा वेश में तक्षक के साथ घटना स्थल पर जाती है के साथ वह भी बन्दिनी होती है।

मणिमाला के जीवन का प्रणय प्रसंग बड़ा मनोहर है। ोवन में जनमेजय से उसकी प्रथम भेंट होती है और उसकी ीरता व्यंजक मनोहर मूर्ति, तथा 'तेजोमय मुखमंडल' उसके न्तः करण में एक तरह की गुदगुदी' पैदा कर देता है। जनमेजय उसका आतिथ्य तो नहीं ग्रहण करता किन्तु उसके 'पवित्र सौन्दर्य्य-पूर्ण मुख-मण्डल' से प्रभावित हो उस 'नागकुमारी की प्रजा होना' ी अच्छा समझता' है। इस प्रकार दोनों के हृदय में प्रणय का ंकुर समान रूप से एक ही समय में प्रस्फुटित होता है। वीरत्व यंजक सौन्दर्य रतिभाव को पुष्ट करने में सहायक होता है। मणि-ाला आगे चलकर जनमेजय की इस छवि पर अपना सम्पूर्ण हृदय

हार बैठती है। जनमेजय सैनिकों के साथ आकर नागों को भगाते हुए अश्व छुड़ा ले जाते हैं। उसी समय मणिमाला का प्रवेश होता है वह जनमेजय के युद्धोत्साह पूर्ण वीरत्व व्यंजक सौन्दर्य का पुनः साक्षात्कार कर एकाकी अपना प्रणय भाव मुखरित करती है—"क्या ही वीर दर्प से पूर्ण मुख श्री है! प्रणय-वृक्ष, तू कैसे भयानक पानी से टकराने वाले कगारे पर लगा है।" मणिमाला और जनमेजय का परिणय सम्बन्ध केवल राजनैतिक और सांस्कृतिक ऐक्य का ही सूचक नहीं है वरन् वह दो सच्चे प्रणय-पूर्ण हृदयों का यथार्थ सम्मिलन है।

नाटक की नायिका मणिमाला है। वह नायक के प्रतिपक्षी की कन्या है। उसके जीवन का अधिकांश विकास-क्रम नाटक में प्रदर्शित है। नाटक के अधिकांश आदर्श—करुणा, विश्वप्रेम, आतिथ्य, सेवा, विपन्न रक्षा युद्धोत्साह आदि उसके चरित्र में वर्तमान हैं। नाटकीय कथावस्तु के अन्तर्गत ही नायक के साथ उसका प्रणय प्रसंग प्रारम्भ होता है और संघर्ष के बाद नायक को उसकी प्राप्ति होती है। यद्यपि नाटक में संघर्ष उसकी प्राप्ति के लिए ही नहीं है फिर भी वह नायक को प्रतिपक्षी से संघर्ष की शान्ति स्वरूप ही मिलती है। यद्यपि वपुष्टमा नायक की परिणीता भार्य्या है किन्तु उसका नायक के साथ जीवन सम्बन्ध नाटकीय वातावरण से पूर्व का है और उपर्युक्त अनेक विशेषताओं का उसमें अभाव है अतः वह नायिका नहीं मानी जासकती है।

वपुष्टमा

आर्य महिषी वपुष्टमा का चरित्र शान्त, उदार और निर्वैर भावापन्न है। आर्यों और नागों के संघर्ष में उसका कोई सक्रिय भाग नहीं है। वह एक सती नारी की भाँति अपने पति की कल्याण कामना में सदैव मग्न रहती है और संघर्ष के परिणामों से सदैव सशंक रहती है। वपुष्टमा अपनी एक सखी से इसी भाव को व्यक्त करती है—"उद्विग्न ! प्रमदा, मेरा हृदय बहुत ही उद्विग्न हो रहा है। मेरा चित्त चंचल हो उठा है। भविष्य कुछ टेढ़ी रेखा खींचता हुआ दिखाई दे रहा है।"

वपुष्टमा उदार और न्यायप्रिय भी है। उत्तंक को अपने अति प्रिय एवं बहुमूल्य मणिकुंडल सहर्ष प्रदान करती है। सरमा की न्याय की पुकार सुनकर वह द्रवित हो उठती है और अपने पति जनमेजय से कहती है— "आर्य्यपुत्र ! न्याय कीजिए। नारी का अश्रुजल अपनी एक एक बूंद में वहिया लिए रहता है।" सरमा ने जब अपना रहस्य प्रकट करते हुए यह बताया कि "मैंने अपनी इच्छा से नाग-परिणय किया था" तब वपुष्टमा उसके प्रति अनादर पूर्ण शब्दों का प्रयोग करती है— "छीः आर्य्य-ललना होकर नाग जाति के पुरुष से विवाह किया ! तभी तो यह लाञ्छना भोगनी पड़ती है।" वपुष्टमा के उक्त कथन में जातीय मर्य्यादा का भाव है। मानवता की दृष्टि से चाहे उसका यह कथन त्रुटि पूर्ण माना जाय किन्तु मर्य्यादा की दृष्टि से उसे हम इसके लिए दोषी नहीं ठहरा सकते हैं। नाटककार ने सरमा से वपुष्टमा द्वारा उक्त कथन के लिए क्षमा याचना कराकर उसकी हीनता प्रदर्शित की है। सरमा के मुख से उसके उक्त कथन को सिंहासन का आवेश बताया है, किन्तु उस पर यह आरोप समीचीन नहीं है।

प्रत्येक व्यक्ति देश काल की मर्य्यादा से नियन्त्रित है। वपुष्टमा यदि सरमा को मर्य्यादा भंग के लिए लाञ्छित करती है तो वह देश काल सम्मत है।

वपुष्टमा में मर्य्यादा का ध्यान केवल दूसरों की आलोचना ही के लिए नहीं है, प्रत्युत वह अपने जीवन के परम संकट काल में भी आत्म-मर्य्यादा के लिए ही विशेष आकुल दिखाई पड़ती है। नाग लोग उसे मूर्छित दशा में उठाकर लेजाते हैं। संज्ञा प्राप्त होने पर वह अपने जीवन के लिए चिन्तित नहीं होती है वरन् वह आत्म-मर्य्यादा की भावना से सरमा से कहती है—"किन्तु बहन, मैं तो किसी ओर की नहीं रही। सम्राट् की इच्छा क्या होगी, कौन जाने। आर्य्यावर्त भर में यह बात फैल गई होगी कि साम्राज्ञी—" वपुष्टमा की पवित्रता के लिए व्यास के प्रमाण देने पर जनमेजय उसे स्वीकार करता है।

वपुष्टमा अपने पति की कल्याण भावना से सापत्न्य संताप सहने के लिए स्वयं अग्रसर होती है। वह सरमा द्वारा प्रस्तावित मणिमाला के विवाह का समर्थन करती है और स्वयं उसका हाथ जनमेजय को पकड़ाती हुई कहती है 'यह निर्मल कुसुम तुम्हारे समस्त सन्ताप का हरण करके मस्तक को शीतल करे।' वपुष्टमा का समस्त चरित्र सात्विक भाव सम्पन्न है और वह भारतीय सती नारी के सर्वथा अनुरूप है।

दामिनी

यौवन की मदिर आकांक्षाओं से उन्मत्त दामिनी विषय वासना की मृगतृष्णा में पथभ्रष्ट हो इधर-उधर भटकती फिरती है। वह गुरुकुल के आचार्य वेद की धर्म्मपत्नी है किन्तु इसे अपने पद और मर्य्यादा का भी ध्यान नहीं रहता है और वह बारम्बार अपने पति के शिष्य उत्तंक पर अनुरक्त हो जाती है। वह विलास पूर्ण विभ्रमों द्वारा उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न करती है। जूड़े में माला लगवाने तथा मणिकुण्डल पहनाने के व्याज से वह उत्तंक का अंगस्पर्श कर उसे कामोत्तेजित करना चाहती है। किन्तु उत्तंक उसके कलुषित प्रेम का प्रतिदान नहीं करता है। दामिनी 'आत्मघात सदृश मनोनिग्रह नहीं कर सकती है।' वह वासना के अतिरेक से निर्लज्ज भी हो जाती है। उसका पति उसकी दुश्चेष्टाओं को लक्षित कर लेता है और उसकी भर्त्सना करता है—'दामिनी! मैंने तेरी दुर्बलता और उत्तंक का चरित्र-बल अपनी आंखों से देखा है। तुझे लज्जा नहीं आती कि मैंने उस त्रुटि की पूर्ति के लिए तुझे जो अवसर दिया, वह तूने खोदिया! दामिनी अपने पति की इस कठोर निन्दा की किंचित परवाह नहीं करती है। वह उत्तंक के सामने अपनी वासना का नग्नचित्र ही उपस्थित करती है—'तो चले जाओगे? आज मैं स्पष्ट कहना चाहती हूँ कि—'

प्रेम का प्रतिदान न होने पर नारी का हृदय ईर्षा प्रेरित हो प्रतिशोध के लिए तत्पर हो जाता है। वह जिस वेग से प्रेम-पथ पर अग्रसर होती है, प्रेम के न प्राप्त होने पर, उससे दूने वेग से ईर्षा जनित प्रतिशोध के लिये- कटिबद्ध हो जाती है। दामिनी की भी यही दशा है। उत्तंक से तिरस्कृत होने पर वह उससे प्रतिशोध लेने के लिए

ंकल पड़ती है। पहिले तो वह माणवक को अपने साथ में लेना ाहती है पर उसके अस्वीकार करने पर वह स्वयं तक्षक के यहाँ ा पहुँचती है। वह तक्षक से, जनमेजय के यहाँ उत्तंक के जाने का हस्य बताकर उसके सर्वनाश के लिए उसे उत्तेजित करती है। इस कार दामिनी वासना और ईर्षा के अंधड़ में पड़कर क्रमशः स्थान ष्ट होती जाती है। उसे अपनी इस पतितावस्था का अनुभव तक्षक के हाँ नागकुल में होता है। वहाँ पर नागों की कुटिलता और क्रूरता ़खकर उसे अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है। उसका वेक जाग्रत होने पर वह देखती है—"मनुष्य जब एक बार पाप ़ नागपाश में फँसता हैं, तब वह उसी में और भी लिपटता जाता ़। उसी के गाढ़े आलिंगन, भयानक परिरंभ में सुखी होने लगता ़। पापों की शृंखला बन जाती है। उसी के नए नए रूपों पर गासक्त होना पड़ता है।"

विवेक के जाग्रत होने पर दामिनी आत्मसंयम द्वारा आत्मोद्धार ा प्रयास करती है। वह अपने हृदय का सम्पूर्ण साहस बटोर र अश्वसेन को उसकी कामुक चेष्टाओं के कारण फटकारती है— 'हटो, अश्वसेन मेरा मानस कलुषित हो चुका है; पर अभी तक मेरा ारीर पवित्र है। उसे दूषित न होने दूंगी— चाहे प्राण चले जाँय। ×××" दामिनी निर्भीकता पूर्वक अश्वसेन को दुत्कार कर अपने सतीत्व की रक्षा करती है, और अपने पति के पास पुनः आकर आत्म-अपराधों के लिए क्षमा माँगती है। माणवक भी उसकी सच्चरित्रता ी साक्षी देता हुआ वेद से क्षमा करने का आग्रह करता है— आर्य! क्षमा से बढ़कर और किसी बात में पापको पुण्य बनाने ी शक्ति नहीं है। मैं भलीभाँति जानता हूँ कि यह स्त्री आचारतः ़वित्र और शुद्ध है।"

दामिनी की मानसिक दुर्बलता यौवन के प्रथम आवेग से तथा कुछ परिस्थिति जन्य भी है। वेद ने वृद्धावस्था में दामिनी का पाणि-ग्रहण किया, और 'युवती स्त्री को छोड़कर यों ही परदेश में समय बिताने लगे।' अतएव इन्द्रियों की प्रबलता को दामिनी नहीं दमन कर सकती। चंचलता और रूपमोह उसमें परिस्थितिजन्य दुर्बलताएँ हैं। यौवन के प्रादुर्भाव होने से वह अपनी वेशभूषा और सजावट के लिए उत्सुक दिखाई पड़ती है। शीला के साथ इस विषय पर एक लम्बी वार्तालाप के बाद उसे अपनी इस दुर्बलता का ज्ञान होता है।

दामिनी के चरित्र की यह एक विशेषता है कि उसे अपने दुर्गुणों एवं दुर्बलताओं का ज्ञान हो जाने पर वह उनका तत्काल परिहार करती है। इससे उसका व्यक्तित्व गिरकर भी ऊँचे उठ जाता है। वह अपने इस उन्नत व्यक्तित्व के प्रभाव ही से उत्तंक ऐसे दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्ति को नागयज्ञ से विरत कर देती है। उत्तंक अपने गुरुवेद के आग्रह की उपेक्षा करता है पर वह दामिनी के प्रत्यक्ष दृष्टांत के समक्ष सिर झुका देता है।

दामिनी का चरित्र विकास स्वाभाविक है। उसकी स्वभावज दुर्बलताएँ परिस्थितियों से टकरा कर दूर हो जाती हैं और उसका प्रकृत नारीत्व प्रस्फुटित हो जाता है। दुर्बलताओं पर विजय पाना ही मानव जीवन की सफलता है।

व्यास

व्यास महात्मा हैं। वे दिव्यदृष्टि सम्पन्न भूत, भविष्य और वर्तमान के ज्ञाता हैं। साथ ही वे विश्वकल्याण के इच्छुक हैं और नाटक के अधिकांश प्रधान पात्रों को कल्याण मार्ग की ओर प्रेरित करने वाले हैं। जनमेजय, आस्तीक, मणिमाला, शीला, सोनश्रवा सब उनकी शरण में आते हैं। वे इन सभी को उनके भविष्य का संकेत देकर कल्याण मूलक सत्कर्मों की ओर प्रेरित करते हैं। नाटक के अन्तिम दृश्य में व्यास के व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। वे नागयज्ञ रुकवाकर आस्तीक का आवेदन जनमेजय से स्वीकार कराते हैं। व्यास के साक्षी देने पर जनमेजय अपनी परित्यक्ता महिषी वपुष्टमा को पुनः ग्रहण करता है। ब्राह्मण समाज और जनमेजय के बीच सौमनस्य व्यासदेव की कृपा से ही पुनः प्रतिष्ठित होता है। जनमेजय ब्राह्मणों से क्षमा मांगते हैं और ब्राह्मण लोग उसे आशीर्वचनों से संतुष्ट करते हैं। इस प्रकार नाटक के अन्तिम दृश्य में व्यास के प्रभावशाली एवं समादृत व्यक्तित्व से सभी विषमताएँ दूर होती हैं।

व्यास एक दार्शनिक हैं। नियतिवाद का मूलमंत्र व्यासदेव से उद्घोषित होता है। मनुष्य के प्रत्येक कर्म में एक अदृष्ट शक्ति का हाथ सदैव रहता है; यही नियति कही जाती है। मानव अपने कर्म करने में स्वतंत्र नहीं है "अन्ध नियति कर्तृत्व मद से मत्त मनुष्यों की कर्मशक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य्य कराती है।" अतः उसे भविष्य के लिए आकुल न होना चाहिए; जो हो रहा है उसे होने देना चाहिए। व्यास की यह दार्शनिक विचार धारा मानव मस्तिष्क ग्राह्य है। मन को प्रकृतिस्थ रख कर शुद्धबुद्धि से कार्य्य करते रहने पर मनुष्य अवश्य कल्याण का भागी होता है। व्यास के समस्त उपदेशों का सार यही है।

सोमश्रवा और शीला

ब्राह्मण दम्पति सोमश्रवा और शीला सात्विक भाव सम्पन्न हैं। शुद्धबुद्धि की प्रेरणा से विश्वकल्याण के लिये निष्काम कर्म करना उनका जीवनलक्ष्य है। सोमश्रवा जनमेजय की पुरोहिती अर्थ लोभ से नहीं वरन् याज्ञिक क्रियाओं को विधिवत् कराने की दृष्टि से स्वीकार करता है। उनके इस कार्य्य का समर्थन उस समय के महर्षि च्यवन और महात्मा वेदव्यास मुक्तकंठ से करते हैं। सोमश्रवा राजपुरोहित होकर भी अपने विचार स्वातंत्र्य और कर्त्तव्य ज्ञानका त्याग नहीं करता। धर्म के विरुद्ध कोई कार्य्य होने पर पुरोहिती छोड़देने की प्रतिज्ञा करके ही वह राजपुरोहित होना स्वीकार करता है। अवसर पड़ने पर वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहता है। नागयज्ञ के विधान में आचार्य बनना वह अस्वीकार करता है। वह खुले शब्दों में कहता है—"शास्त्र के विरुद्ध कोई नया नियम बनाने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है। नरबलि का यह घातक कार्य्य मुझसे न होगा।" सोमश्रवा के इस कथन से विचार स्वातंत्र्य के अतिरिक्त उसकी निर्भीकता भी प्रकट होती है।

सोमश्रवा में ब्राह्मणोचित विनय और क्षमाशीलता है। जनमेजय प्रमादवश ब्राह्मणों को निर्वासन दण्ड देता है। काश्यप के अपराध से उत्तेजित हो निर्दोष ब्राह्मणों को इस प्रकार दण्डित करना जनमेजय का जघन्य अपराध है। किन्तु सोमश्रवा इससे रुष्ट होकर शाप नहीं देता। जनमेजय का विवेक जागृत होने पर जब वह ब्राह्मणों से क्षमा मांगता है तब सोमश्रवा के नायकत्व में समस्त ब्राह्मणमण्डली उसे आशीर्वचनों से संतुष्ट कर देती है। निस्सन्देह काश्यप ने अपने कलुषित कर्मों से ब्राह्मणकुल पर जो कलंक-कालिमा पोती सोमश्रवा अपने सात्विक आचरणों द्वारा उसे धो देता है।

शीला सोमश्रवा की धर्मपत्नी है। वह पति के मांगलिक कार्य्य, अग्निहोत्र आदि में सहयोग देकर उसके अनुकूल ही सर्वत्र आचरण करती है। वह आर्य्य-ललनाओं की भाँति अपने पति के सत्कार्यों में सहकारिणी है। शीला भावुक है। उसे अपनी सखियों से बड़ा प्रेम है। मणिमाला से तो उसकी अभिन्न मित्रता है। वह जिस प्रकार उसके साथ हास्य विनोद में योग देकर हृदय को मुकुलित करती है उसी प्रकार उस पर संकट आने पर उसके साथ अपना जीवन अर्पण करने को भी वह प्रस्तुत हो जाती है। जनमेजय, तक्षक के साथ, मणिमाला को भी यज्ञकुंड में डाल कर जला देना चाहता है। शीला भी अपनी सखी के साथ जलने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। वह भरी सभा में ललकार कर कहती है—'बहन मणिमाला, मैं तुम्हारे साथ हूँ। यदि तुम्हें जलावेंगे, तो मैं भी तुम्हारे साथ जलूंगी।"

शीला मानों दामिनी का प्रतिरूप है। दामिनी विषयवासना की मृगतृष्णा में जगह जगह टकराती फिरती है। शीला अपने पति की सच्ची अनुगामिनी है वह 'आर्य्य ललनाओं के समान ही अपने पति के सत्कर्मों में सहकारिणी' है। दामिनी को वस्त्राभूषणों से विशेष मोह है। वह यज्ञशाला में कुलललनाओं और राजकुल की स्त्रियों के बीच उन्हीं के समान सजधज कर जाना चाहती है। किन्तु शीला समझती है—'स्त्रियाँ विशेष शृंगार का ढोंग करके अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता भी खो बैठती हैं।" अतः वह 'सरलता, हृदय की पवित्रता, और स्वच्छता' को ही स्त्रियों के लिए वांछित मानती है। दामिनी को शीला के सात्विक हृदय और पावन व्यक्तित्व के समक्ष सिर झुकाना पड़ता है। शीला और सोमश्रवा का चरित्र आदर्श रूप में अंकित है।

वह देवगुप्त के बन्दीगृह में अपमान एवं क्षोभ की दारुण यन्त्रणा में संतप्त होती है। उसका भाई राज्यवर्धन उसके उद्धार के प्रयास में छलपूर्वक मारा जाता है। पुनः दस्युओं के हाथ में पड़कर वह अनाथा की भाँति जगह जगह अनिश्चित भाव से घूमती रहती है। जीवन की इस विषादपूर्ण एवं दयनीय दशा से उसका हृदय आकुल हो उठता है। वह देवगुप्त के बन्दीगृह में अपनी सखी विमला से कहती है—"वेदना रोम-रोम में खड़ी है, विमला! चेतना ने तो भूली हुई यातनाओं, अत्याचार और इस छोटे-से जीवन पर संसार के दिए हुए कष्टों को फिर से सजीव कर दिया है। सखी! औषधि न देकर यदि तू विष देती तो कितना उपकार करती।" राज्यश्री दुःख की अतिव्याप्ति से ऊबकर अपने प्राण विसर्जन के लिए अनेक अवसरों पर तत्पर दिखाई पड़ती है। वह दस्युओं से कहती है—"मैं दुखी हूँ, दस्यु! तुम धन चाहते हो, पर वह मेरे पास नहीं! इस विस्तीर्ण विश्व में सुख मेरे लिए नहीं, पर जीवन?" × × × × "तब अच्छा हो कि मेरे जीवन का अन्त हो जाय।" वह दिवाकर मित्र से कहती है—"दुखों को छोड़कर और कोई न मुझसे मिला मेरा चिर सहचर! परन्तु अब उसे भी छोड़ूँगी। आर्य्य मुझे आज्ञा दीजिए। स्त्रियों का पवित्र कर्त्तव्य पालन करती हुई इस क्षण भंगुर संसार से विदाई लूं—नित्य की ज्वाला से, यह चिता की ज्वाला प्राण बचावे।" राज्यश्री के चरित्र की यह महान् विशेषता है कि दुःखों की काली घटा से सदैव आक्रान्त रहने पर भी वह सतीत्व एवं आत्म-गौरव पर किंचितमात्र आँच नहीं लगने देती और वह इनकी रक्षा के लिए अपने प्राण सदैव हथेली पर रखे प्रत्येक विपत्तिपूर्ण परिस्थिति का साहस पूर्वक सामना करती है।

राज्यश्री के चरित्र में जहाँ साहस, धैर्य्य, दृढ़ता, आत्मनिग्रह आदि विविध गुणों का समावेश है वहाँ उसमें उदारता का निदर्शन भी अपनी चरमावस्था पर है। राज्यश्री प्रारम्भ ही से अत्यन्त

उदार है। वह भिक्षुओं को नित्य अन्न वस्त्र का दान देती है। कोई याचक विमुख होकर नहीं जाता। दानप्रकरण में शान्तिभिक्षु के धृष्ट आचरण से वह क्रुद्ध नहीं होती वरन् वह पूर्ण शान्ति एवं गंभीरता से उसे जीवन का आदर्श पथ सद्उपदेश द्वारा दिखाकर कहती है—"यदि तुम्हारी कोई अत्यन्त आवश्यकता हो तो मैं पूरी कर सकती हूँ; निश्चिन्त उपासना की व्यवस्था करा दे सकती हूँ।"

एक लम्बे कष्टमय जीवन के पश्चात् भाई हर्षवर्धन से मिलने पर जब राज्यश्री पुनः शक्ति एवं वैभव सम्पन्न हो जाती है तब भी वह अपनी सहज उदारता का परित्याग नहीं करती। वह अपने भाई के हत्यारे नरेन्द्र को क्षमा करने का अनुरोध करती हुई हर्षवर्धन से कहती है—"फिर भी वह क्षम्य है। अपना सम्बन्धी है। भाई जाने दो। आज हम लोग दान देने चल रहे हैं, क्षमा करो भाई।" विकटघोष सदृश नीचकर्मा एवं दुर्दान्त मनुष्य, जिसने उसके एक भाई की हत्या की, दूसरे भाई पर प्राणान्तक शस्त्र चलाया, एवं उसे भी यातनाओं के गहरे समुद्र में घसीट कर डाल दिया, उसके प्रति भी उसकी प्रतिहिंसा नहीं प्रदीप्त होती और वह उसे भी हर्षवर्धन से क्षमा करा देती है।—"आज हम लोगों ने सर्वस्व दान किया है, भाई! आज महाव्रत का उद्यापन है। क्या एक यही दान रह जाय—इसे प्राणदान दो भाई।"

राज्यश्री का चरित्र हिमालय सदृश उच्च एवं सागर सदृश गम्भीर है। प्रवंचना, प्रतारणा, छल, विद्रोह, हत्या आदि की भीषण आंधियाँ उसके सर पर से निकल जाती हैं पर वह अपनी मर्य्यादा में अटल है। उसके इसी महत्वपूर्ण जीवन का प्रभाव शत्रु मित्र सब पर समान रूप से पड़ता है और वे भी उसकी पतित पावनी चरित्र-मन्दाकिनी में अवगाहन कर निर्विकार अथच निर्मल हो जाते हैं। 'प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर लाखों प्राणों का संहार करने वाला' हर्ष 'राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास' करता है और आगे

वह देवगुप्त के बन्दीगृह में अपमान एवं क्षोभ की दारुण यन्त्रणा में संतप्त होती है। उसका भाई राज्यवर्धन उसके उद्धार के प्रयास में छलपूर्वक मारा जाता है। पुनः दस्युओं के हाथ में पड़कर वह अनाथा की भाँति जगह जगह अनिश्चित भाव से घूमती रहती है। जीवन की इस विषादपूर्ण एवं दयनीय दशा से उसका हृदय आकुल हो उठता है। वह देवगुप्त के बन्दीगृह में अपनी सखी विमला से कहती है—"वेदना रोम-रोम में खड़ी है, विमला! चेतना ने तो भूली हुई यातनाओं, अत्याचार और इस छोटे-से जीवन पर संसार के दिए हुए कष्टों को फिर से सजीव कर दिया है। सखी! औषधि न देकर यदि तू विष देती तो कितना उपकार करती।" राज्यश्री दुःख की अतिव्याप्ति से ऊबकर अपने प्राण विसर्जन के लिए अनेक अवसरों पर तत्पर दिखाई पड़ती है। वह दस्युओं से कहती है—"मैं दुखी हूँ, दस्यु! तुम धन चाहते हो, पर वह मेरे पास नहीं! इस विस्तीर्ण विश्व में सुख मेरे लिए नहीं, पर जीवन ?" × × × ×"तब अच्छा हो कि मेरे जीवन का अन्त हो जाय।" वह दिवाकर मित्र से कहती है—"दुखों को छोड़कर और कोई न मुझसे मिला मेरा चिर सहचर! परन्तु अब उसे भी छोड़ूँगी। आर्य्य मुझे आज्ञा दीजिए। स्त्रियों का पवित्र कर्त्तव्य पालन करती हुई इस क्षण भंगुर संसार से विदाई लूं—नित्य की ज्वाला से, यह चिता की ज्वाला प्राण बचावे।" राज्यश्री के चरित्र की यह महान् विशेषता है कि दुःखों की काली घटा से सदैव आक्रान्त रहने पर भी वह सतीत्व एवं आत्म-गौरव पर किंचितमात्र आँच नहीं लगने देती और वह इनकी रक्षा के लिए अपने प्राण सदैव हथेली पर रखे प्रत्येक विपत्तिपूर्ण परिस्थिति का साहस पूर्वक सामना करती है।

राज्यश्री के चरित्र में जहाँ साहस, धैर्य्य, दृढ़ता, आत्मनिग्रह आदि विविध गुणों का समावेश है वहाँ उसमें उदारता का निदर्शन भी अपनी चरमावस्था पर है। राज्यश्री प्रारम्भ ही से अत्यन्त

उदार है। वह भिक्षुओं को नित्य अन्न वस्त्र का दान देती है। कोई याचक विमुख होकर नहीं जाता। दानप्रकरण में शान्तिभिक्षु के धृष्ट आचरण से वह क्रुद्ध नहीं होती वरन् वह पूर्ण शान्ति एवं गंभीरता से उसे जीवन का आदर्श पथ सद्‌उपदेश द्वारा दिखाकर कहती है—"यदि तुम्हारी कोई अत्यन्त आवश्यकता हो तो मैं पूरी कर सकती हूँ; निश्चिन्त उपासना की व्यवस्था करा दे सकती हूँ।"

एक लम्बे कष्टमय जीवन के पश्चात् भाई हर्षवर्धन से मिलने पर जब राज्यश्री पुनः शक्ति एवं वैभव सम्पन्न हो जाती हैं तब भी वह अपनी सहज उदारता का परित्याग नहीं करती। वह अपने भाई के हत्यारे नरेन्द्र को क्षमा करने का अनुरोध करती हुई हर्षवर्धन से कहती है—"फिर भी वह क्षम्य है। अपना सम्बन्धी है। भाई जाने दो। आज हम लोग दान देने चल रहे हैं, क्षमा करो भाई।" विकटघोष सदृश नीचकर्मा एवं दुर्दान्त मनुष्य, जिसने उसके एक भाई की हत्या की, दूसरे भाई पर प्राणान्तक शस्त्र चलाया, एवं उसे भी यातनाओं के गहरे समुद्र में घसीट कर डाल दिया, उसके प्रति भी उसकी प्रतिहिंसा नहीं प्रदीप्त होती और वह उसे भी हर्षवर्धन से क्षमा करा देती है।—"आज हम लोगों ने सर्वस्व दान किया है, भाई! आज महाव्रत का उद्यापन है। क्या एक यही दान रह जाय—इसे प्राणदान दो भाई।"

राज्यश्री का चरित्र हिमालय सदृश उच्च एवं सागर सदृश गम्भीर है। प्रवंचना, प्रतारणा, छल, विद्रोह, हत्या आदि की भीषण आंधियाँ उसके सर पर से निकल जाती हैं पर वह अपनी मर्य्यादा में अटल है। उसके इसी महत्त्वपूर्ण जीवन का प्रभाव शत्रु मित्र सब पर समान रूप से पड़ता है और वे भी उसकी पतित पावनी चरित्र-मन्दाकिनी में अवगाहन कर निर्विकार अथच निर्मल हो जाते हैं। 'प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर लाखों प्राणों का संहार करने वाला' हर्ष 'राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास' करता है और आगे

चलकर शत्रुओं को अपना प्राणदान तक करने के लिए प्रस्तुत होता है। शान्तिभिक्षु मन को संयत कर उसके 'आदेशानुसार श्लाघा और आकाँक्षा का पथ छोड़ कर सच्चा भिक्षु बनता है। विलास एवं वैभव की तृष्णा में दर दर की ठोकरें खाने वाली सुरमा अपने प्रायश्चित्त के लिए उसकी शरण आती है और चित्त-शुद्धि-पूर्वक काषाय ग्रहण करती है। महाश्रमण सुएनच्वाँग स्वयं उसके चरित्र की महानता से अभिभूत है।—"सर्वस्व दान करने वाली देवी! मैं तुम्हें कुछ दूं—यह मेरा भाग्य। तुम्हीं मुझे वरदान दो कि भारत से जो मैंने सीखा है वह जाकर अपने देश में सुनाऊं।" निस्संदेह ऐसी ही सती नारियों ने भारत का मस्तक संसार में सदा ऊंचा रक्खा है।

राज्यश्री में चरित्र की महानता होते हुए स्त्रियोचित स्वभाव की एक दुर्बलता है। शान्तिभिक्षु दान ग्रहण नहीं करता अतएव वह स्त्री स्वभावानुसार चिन्ताकुल हो जाती है। जब वह प्रतिमा के ऊपर पुष्पाँजलि चढ़ाती है, शान्तिभिक्षु पीछे से ठठाकर हंस देता है। राज्यश्री इस रहस्य को न समझकर मूर्छित हो जाती है और स्वभाव दुर्बलतावश नाना चिन्ताएं उसे आक्रान्त कर कुछ समय के लिए विक्षिप्त सा बना देती हैं।

राज्यश्री की इस स्वभाव—दुर्बलता से उसके चरित्र की महानता में किञ्चित अन्तर नहीं पड़ता वरन् वह हमें भूतल की आदर्श रमणी प्रतीत होती है। शायद उसमें यदि यह स्वभाव की दुर्बलता न होती तो उसका चरित्र हमारी दृष्टि में काल्पनिक प्रतीत होता और सर्व साधारण की पहुँच के बाहर होता। 'प्रसाद' ने, निस्सन्देह, उसके पूर्ण नारीत्व में आदर्श सती का चित्र अंकित किया है।

सुरमा

कान्यकुब्ज देश की मालिन सुरमा एक साधारण रमणी होते हुए भी स्वास्थ और सौन्दर्य से समन्वित तथा विलास और वैभव की मदिर आकांक्षाओं से, आरम्भ ही से, अनुप्राणित है। उसकी महत्वाकांक्षा-पूर्ण विलास-भावना का परिचय, उसके नाटक में प्रवेश करते ही, प्राप्त होजाता है। वह शान्तिभिक्षु से कहती है —"विश्वास करो! मैं आजीवन किसी राजा की विलास मालिका बनाती रहूँ—ऐसा मेरा अदृष्ट कहे तो भी मैं मान लेने में असमर्थ हूँ। मेरे प्राणों की भूख, आँखों की प्यास, तुम न मिटाओगे ?"

सुरमा, स्वभाव से चंचल एवं विवेकहीन है। रूप और यौवन की भावना में उन्मत्त, वह अपने विलासमय मदिर नेत्रों से अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों की बाह्य आकृति और कपटपूर्ण उक्तियों का वास्तविक स्वरुप नहीं पहिचान पाती अतः वह अपने उद्दाम वासनाओं की आँधी में अनिश्चित भाव से इधर उधर भटकती रहती है। सुरमा,शान्तिभिक्षु को अपने विलास पाश में बाँधना चाहती है, किन्तु वह उसके द्वारा अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति संभव न समझ उसे छोड़कर चला जाता है। सुरमा अपनी नीची किन्तु सुदृढ़ परिस्थिति में स्थिर नहीं रहती।

सुरमा के उपवन में मालवनरेश देवगुप्त के प्रवेश के साथ उसके जीवन का नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। देवगुप्त विलासी एवं प्रवंचक है। वह सुरमा के रूप और यौवन से प्रभावित हो उसकी ओर आकृष्ट होता है और थोड़ी बातचीत के उपरान्त वह सुरमा के मनोभावों का अध्ययन कर लेता है। सुरमा बालव्यजन बनाती हुई पेड़ की छाया में बैठे हुए देवगुप्त की ओर कनखियों से देखती है।

वह देवगुप्त के साथ बातचीत करती हुई निरन्तर उसकी ओर आकृष्ट होती जाती है और उसे अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती रहती है। देवगुप्त का साहस बढ़ जाता है। वह सुरमा की रचना और स्वरुप की चाटुकारिता कर उसके प्रति अपना उत्कट आकर्षण व्यक्त करता है। —"अरे तुम्हारा वाल-व्यजन भी बन गया; कितना सुन्दर है! उन कोमल हाथों को चूम लेने का मन करता है—जिन्होंने इसे बनाया।" सुरमा इसके प्रत्युत्तर में 'आप तो बड़े धृष्ट हैं ·········तो अब मैं जाती हूँ।' कहकर अपने कृत्रिम रोष और खीझ तो व्यक्त करती है किन्तु इसके अन्तर में उसके प्रति उसका विलासयुक्त अनुरागभाव छलकता है। वह कृत्रिम रोष प्रदर्शन के उपरान्त ही अपनी पुष्प—रचना लेकर इठलाती हुई जाती है।

सुरमा और देवगुप्त में प्रकृतिसाम्य है। दोनों ही महत्वाकांक्षी और विलासी हैं। दोनों ही कौशल पूर्वक आपस में एक दूसरे पर अपना प्रभाव आरोपित करते हैं। सुरमा एक ओर हाव भाव के प्रदर्शन से अपना रुपजाल देवगुप्त के समक्ष फैलाती है दूसरी ओर वह अपनी निम्न एवं अभावपूर्ण स्थिति के प्रति उसके समक्ष बारम्बार क्षोभ व्यक्त कर उसकी सहानुभूति प्राप्त करना चाहती है। वह देवगुप्त से कहती है—"कष्ट! ओह! कष्टों का तो अभ्यास हो गया है। अभी राज-मन्दिर से हो आई।··· मैं उन विभव-विलास के प्रदर्शनों को, उपकरणों को, अपनी दरिद्रता की हंसी उड़ाते देखती हुई, लौट आई हूँ।" छद्मवेषी कामुक देवगुप्त को उसके विषय में इस निर्णय पर पहुँचते देर नहीं लगती कि "कितनी भावनामयी यह युवती है—अवश्य इसके हृदय में महत्व की आकांक्षा है।" वह सुरमा को अपने कार्य्य का उपयुक्त साधन एवं भोग की अनुकूल सामग्री समझ कर उसे अपनी विशेष विश्वासपात्री बनाता है। वह उस पर अपना सम्पूर्ण रहस्य प्रकट कर उसे अपना बना लेता

है। सुरमा इस आकस्मिक भाग्योदय पर आश्चर्य चकित हो जाती है। वह कहती है—"हे भगवान! इतना बड़ा सौभाग्य! नहीं यह मेरे अदृष्ट का उपहास है।" इस भाग्योदय के प्रखर आलोक में शान्तिभिक्षु की स्मृति प्रभात-दीप की भांति सहसा सजग होकर कुछ समय के लिए, नितान्त सुप्त होजाती है। वह सहसा देवगुप्त के समक्ष ही कह उठती है—'परन्तु शान्तिभिक्षु की प्रतीक्षा।' सुरमा प्रत्यक्ष सुख को ठुकरा कर एक काल्पनिक जीवन के पीछे पड़ने वाली नहीं है। शान्तिभिक्षु के प्रति उसके प्रणय में स्थायित्व नहीं है। अतः वह उसे कुछ काल के लिए बरबस भुला देती है।

कान्यकुब्ज में देवगुप्त के साथ सुरमा का विलास एवं वैभव युक्त जीवन उसके लिए परम आह्लादकारी है। विलास उपकरणों की प्रचुरता तथा देवगुप्त की चाटुकारिता से सुरमा आत्मविभोर हो जाती है। वह देवगुप्त से कहती है—"कितनी मादकता इस प्रशंसा में है, प्रियतम! मुझे अपना स्वरूप विस्मृत होता जा रहा है। मेरा यह सौभाग्य ...." 'यौवन, स्वास्थ्य और सौन्दर्य्य की छलकती हुई प्याली, सुरमा कल्पनातीत जीवन को प्रत्यक्ष देखकर आश्चर्य्य सिन्धु में डूबती उतराती सी है———"मैं कहां हूँ? यह उज्वल भविष्य कहां छुपा था? और यह सुन्दर वर्तमान, इन्द्रजाल तो नहीं? (देवगुप्त का हाथ पकड़कर)—क्या यह सत्य है?" आशातीत सुखों की आकस्मिक प्राप्ति आश्चर्योत्पादक होती है। नाटककार ने सुरमा के चरित्र में इसी मानसिक दशा का परम स्वाभाविक एवं सजीव चित्रण किया है।

देवगुप्त के साथ सुरमा का सुखी जीवन बालुका-भीत के समान है। घटना प्रभंजन के एक झोंके में ही वह भूमिसात हो जाता है। शान्तिभिक्षु की एक ही हुंकार को सुनकर देवगुप्त, सुरमा के बाहुपाश से निकल भागता है। सुरमा विवशता पूर्वक शान्तिभिक्षु का पल्ला पुनः पकड़ती है। उसके साथ उसे न तो विलास-सुख की और न

नाटककार ने शान्तिदेव के चरित्र में इस तथ्य का निरूपण बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। शान्तिदेव अर्थलाभ के लिए भिक्षु से दस्यु बन जाता है। अर्थ लोलुपता उसे नर से नरपिशाच बना देती है। वह अर्थ लोभ से राज्यश्री के अपहरण की चेष्टा करता है, राज्यवर्धन की हत्या करता है, सुएनच्वांग भिक्षु यात्री को मार्ग में लूटने का प्रयत्न करता है और अन्त में अपना सर्वस्वदान करने वाले हर्षवर्धन पर भी वह हाथ साफ करना चाहता है। उसकी निर्दयता कठोरता आदि पाशव वृत्तियाँ उसमें क्रमशः बढ़ती ही जाती है। हत्या और लूट उसके लिए प्रयत्न साध्य नहीं रहते वरन् उसके स्वभाव धर्म बनजाते हैं। उनमें उसे आनन्द की अनुभूति होती है। वह सुरमा से कहता है—"अब तो मैं रक्त देख कर अत्यन्त प्रसन्न होता हूँ।" उसकी आकृति भी उसके आचरणों के अनुरूप हो जाती है। नरेन्द्रगुप्त उसे देख कर तत्काल कहता है —"स्पष्ट रक्त और हत्या का उल्लेख तुम्हारे ललाट पर है।"

शान्तिदेव केवल अपने सुख और उन्नति का अभिलाषी है। आत्मोन्नति एवं सुख के लिए वह सब कुछ करने को तैय्यार रहता है। विकटघोष नामधारी दस्यु शान्तिदेव स्वयं कहता है—'सच बात तो यह है कि मुझे अपने सुख के लिए सब कुछ करना अभीष्ट है।" वह पतन के मार्ग पर एक बार पैर रखकर उसकी सीमा तक जाने को प्रस्तुत होजाता है। वह सुरमा से कहता है—पतन की सीमा तक चलें, सुरमा बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं।"×××××यदि कुछ ऐसा कर सकूं कि वह(संसार)मुझे देखे, मेरी खोज करे,तब तो सही।" शान्तिदेव आगे चलकर सुरमा से अपने इसी मनोभाव की पुष्टि में कहता है—'अब शील संकोच का डर मुझे नहीं भयभीत कर सकता। यहाँ तक चढ़ आने पर लौटना असंभव है।" शान्तिदेव के इन कथनों में उसके मन की पतनोन्मुख दशा तथा निम्नकोटि की मनोवृत्तियों की ओर उसका वेगपूर्ण प्रवाह व्यक्त होता है। वह जीवन के

हत्वपूर्ण निश्चय के अनुसार आचरण करता हुआ अपने समय
का महान आतंककारी एवं समाजशत्रु सिद्ध होता है।

शान्तिदेव का चरित्र अधिकाँश में पतनोन्मुख तो अवश्य है
किन्तु यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि वह जिस दस्युवृत्ति को
अपने जीवन में ग्रहण करता है उसके अनुरूप उसमें कार्य्य-पटुता
साहस एवं दृढ़ता है तथा इसके साथ ही उसकी आकृति एवं शारीरिक
गठन, कार्य्य सिद्धि में उसके सहायक हैं। उसके लम्बे चौड़े हाथ
र और कर्कश कण्ठ, दस्यु समाज को उसके दस्युराज होने की
प्रतीति करा देता है। उसकी 'भयानक दाढ़ी और बिच्छू की डंक सी
मूंछ, मालवराज सहचर मधुकर को भयविकम्पित कर देती है और
वह, शान्तिदेव उपनाम विकटघोष की कार्य्य सिद्धि में विवशतापूर्वक
सहायक होजाता है।

शान्तिदेव निर्भीक और महासी है। वह दस्युदल की वार्ता को
अर्धसुप्तावस्था में सुनकर अपना कर्तव्य निर्धारित कर लेता है अपनी
वाक्चातुरी से दस्युदल का अधिनायक बन जाता है। अनुभवी सेनापति
गण्डि भी उसकी साहसपूर्ण वार्ता से प्रभावित हो उसे पंचनद गुल्म में
सम्मिलित करलेता है। शान्तिदेव के पुरुषार्थी व्यक्तित्व को पहिचान
कर नरेन्द्रगुप्त उसे अपने कार्य्य साधन का उपयुक्त पात्र निर्धारित
करता है। उसमें कार्य्य-कुशलता और पुरुपार्थ पूर्ण उन्नत अवस्था
में है। संस्कारवश उनका उपयोग वह आदर्श विरोधी मार्ग में
करता है।

शान्तिदेव के जीवन का अन्तिम परिवर्तन आकस्मिक है।
हर्षवर्धन के प्राण लेने की चेष्टा में असफल होने पर तथा वन्दी हो
जाने पर आत्मग्लानि उसे सहसा आक्रान्त कर लेती है। वह हठात्
चिल्लाने लगताहै—"मेरे वध की आज्ञादीजिए। ओह! प्राण जल रहे हैं
रोम-रोम से चिनगारियां निकल रही हैं..........दण्ड! दण्ड! हे
भगवान्।" शान्तिदेव के उक्त कथन के पूर्व राज्यश्री की क्षमा-

शीलता और हर्षवर्धन की उदारता का निदर्शन है और नाटककार ने आदर्शों की प्रभविष्णुता व्यक्त करने के लिए ही मानो शान्तिदेव में आकस्मिक परिवर्तन चित्रित किया है। किन्तु वह मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल नहीं प्रतीत होता। यश एवं वैभव की आकाँक्षा से पतन की चरम सीमा तक दौड़ लगाने वाला तथा हत्या और लूट से नित्य मनोरंजन करने वाला व्यक्ति जीवन की एक ही ठोकर लगने पर एकदम विवेकयुक्त और सात्विक बुद्धिसम्पन्न हो आत्मग्लानि की अभिव्यक्ति करने लगे, यह सामान्य जीवन में अनहोनी सी बात है।

देवगुप्त

मालव-नरेश देवगुप्त कामुक, और कुचक्री है। वह कान्यकुब्ज में ग्रहवर्मा की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर षड़यन्त्र द्वारा उसे हस्तगत कर लेता है। छद्मवेष में अपने बहुसंख्यक साथियों सहित किसी अरक्षित स्थान पर पहुँच कर उसे आकस्मिक आक्रमण द्वारा आत्मसात करलेना क्षत्रियोचित वीरता के प्रतिकूल है। वह स्थाण्वीश्वर और कान्यकुब्ज दोनों को एक साथ ही ध्वंस करने की डींग तो अवश्य हाँकता है किन्तु उक्त कार्य्य सम्पादन की न तो उसमें यथेष्ट शक्ति है और न साहस ही।

देवगुप्त के चरित्र में विलासिता और कामुकता का निदर्शन विशेष है। वह कान्यकुब्ज में कौशल से राज्य प्राप्त करने आता है। किन्तु एक सामान्य मालिन सुरमा के सौन्दर्य्य पर अनुरक्त हो उसे वह अपनी प्रणयिनी बना लेता है। उसका यह कार्य्य उसकी राजकीय प्रतिष्ठा के सर्वथा विपरीत है। उसकी विलास भावना सुरमा को ही अपनाकर सन्तुष्ट नहीं होती। वह राजश्री को भी अपने भोग की सामग्री बनाना चाहता है। सुरमा के प्रति देवगुप्त का प्रेम केवल रूप-मोह प्रेरित है। वह सुरमा के समक्ष अपने विलासी हृदय का परिचय देता हुआ कहता है—'तुम यौवन, स्वास्थ्य और सौन्दर्य्य की छलकती हुई प्याली हो—पागल न होना ही आश्चर्य्य है।' वह युद्ध और संघर्ष को आसन्न देखकर भी सुरा और सुन्दरी के सेवन द्वारा कालयापन करता है;—"आज सुरमा! अच्छी तरह पिला दो। कल तो मुझे भयानक युद्ध के लिए प्रस्तुत होना है। तुम कितनी सुन्दर हो सुरमा!" देवगुप्त के इस कथन से उसकी घोर विलासी प्रकृति का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है।"

देवगुप्त क्रूर और कायर है। राज्यश्री जब उसके घृणित प्रणय-प्रस्ताव को ठुकरा देती है तब वह उसे बन्दी-गृह में डलवा देता है। विकटघोष की हुँकार पूर्ण एक ही घुड़की से देवगुप्त के देवता कूच कर जाते हैं और वह सुरमा को निराश्रित दशा में ही छोड़ कर वह भाग खड़ा होता है। राज्यवर्धन के साथ द्वन्द्व युद्ध में उसका पराजित होकर मृत्यु प्राप्त करना आश्चर्योत्पादक नहीं है। देवगुप्त का चरित्र आदर्शों के सर्वथा प्रतिकूल है अतः उसका अन्त तदनुसार स्वाभाविक है।

हर्षवर्धन

अन्तिम भारतीय सम्राट हर्षवर्धन के जीवन का आंशिक चरित्रांकन 'राज्यश्री' नाटक में है। चरित्र—विस्तार के अभाव में उसे इस नाटक का नायक तो सर्वथा नहीं स्वीकार कर सकते किन्तु नाटक के अन्य प्रमुख पात्रों की अपेक्षा हर्षवर्धन के चरित्र में ही नाटककार ने अपने आदर्शों की प्रतिष्ठा अधिक मात्रा में की है। उसके चरित्र में वीरता एवं उदारता का सुष्ठु सामञ्जस्य है। विदेशी आक्रमणकारी हूणों को विताड़ित कर समस्त उत्तरापथ को वह अपने आधीनस्थ करता है। वह दक्षिणापथ विजय करने के लिए अग्रसर होता है किन्तु उसे वीर चालुक्य के समक्ष आंशिक पराजय मिलती है और वह चालुक्य नरेश पुलकेशिन से सन्धि करके प्रसन्नतापूर्वक अपनी राजधानी में लौट आता है। हर्ष की राज्य—विस्तार भावना अधिकार लुब्ध प्रेरित नहीं है। वह हत्या और लूट के व्यवसाय द्वारा अपना कोष भरने वाला नहीं है। वह अपने दिग्विजय में भारतीय आदर्श को ही सामने रखता है। पुलकेशिन के समक्ष वह इसी बात को बड़ी सरलता और स्पष्टता के साथ व्यक्त करता है—'मुझे साम्राज्य की सीमा नहीं बढ़ानी है।" वह राज्य विस्तार की अपेक्षा शासन सुव्यवस्था को राज्यधर्म का प्रमुख अंग मानता है। उसकी यह निश्चित धारणा है कि—"यदि इतने ही मनुष्यों को सुखी कर सकूँ—राजधर्म पालन कर सकूं ; तो कृतकृत्य हो जाऊंगा।" फिर भी मगध सम्राटों की दुर्बलता से अरक्षित उत्तरापथ की हूणों से रक्षा करना तथा कामरूप से लेकर सुराष्ट्र तक और काश्मीर से लेकर रेवा

राज्यवर्धन वीर होने के साथ ही उदार भी है। किन्तु उसकी उदारता ही उसकी प्राणघातक सिद्ध होती है। दुर्नाम नीच नरेन्द्र आनन्दोत्सव में राज्यवर्धन को निमन्त्रित कर विकटघोष एवं सुरमा द्वारा छलपूर्वक उसकी हत्या करवा देता है। वस्तुतः जीवन के प्रथम भाग में राजवर्धन के पराक्रम एवं ऊर्जस्विता देखकर उसके उज्ज्वलतम भविष्य की कल्पना सहज ही होजाती है। नाटक में अंकित उसका चरित्र यद्यपि परिमाण में अत्यल्प है किन्तु वह अत्यन्त सजीव एवं प्रभावोत्पादक है।

चन्द्रगुप्त

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का नायक चन्द्रगुप्त है। वह अत्यन्त धैर्य्यवान, साहसी, पराक्रमी, वीर और उदार है। उसके चरित्र का विकास नाटक में बड़े क्रम से हुआ है। कुल-मर्य्यादा की रक्षा के लिए वह धैर्य्य और उदारता पूर्वक अपना सर्वस्व त्याग और बलिदान करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहता है। वह अपने समस्त वाह्य और आन्तरिक विरोधियों पर विजयी होता है। नाटक के अन्त में उसको सम्पूर्ण नाटकीय फल—राज्य और नाटक की नायिका ध्रुव-स्वामिनी—की प्राप्ति होती है। अतः चन्द्रगुप्त ही नाटक का नायक है।

गुप्त-वंश के गौरव-रक्षा की भावना चन्द्रगुप्त के अन्दर सर्वोपरि है। पारिवारिक कलह मिटाने के लिए वह आरम्भ में पिता द्वारा दिए हुए उत्तराधिकार की उपेक्षा कर देता है और अपने भाई रामगुप्त को सरलता से उस पद पर प्रतिष्ठित हो जाने देता है। इतना ही नहीं वरन् वह अपनी वाग्दत्ता पत्नी ध्रुवस्वामिनी के वरण के लिए भी बलप्रयोग नहीं करता। सहोदर के प्रति इतना बड़ा त्याग उसके उच्च शील और अनुपम धैर्य्य का परिचायक है।

चन्द्रगुप्त केवल पारिवारिक शान्ति का उपासक नहीं है वरन् वह कुल-कीर्ति का भी सतत अभिलाषी है। अतः जब उसे वह कुल-कीर्ति अस्थिर होती प्रतीत होती है तथा राजनैतिक शान्ति के नाम पर कुल-गौरव एवं नारी—सम्मान के समर्पण की बात उसके सामने आती है तो उसका पुरुषार्थ, पराक्रम, स्वाभिमान और ममत्व, सभी सजग हो उठते हैं और तभी उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रकट होता है। वह ध्रुवस्वामिनी से पूर्ण आत्मविश्वास के साथ कहता है—"यह नहीं हो सकता! महादेवि! जिस मर्य्यादा के लिए—जिस महत्व को स्थिर रखने के लिए, मैंने राजदण्ड ग्रहण न करके अपना

मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया उसका यह अपमान! मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पददलित होना न पड़ेगा।"

एक बार कर्तव्य निर्धारित कर उस पर आरूढ़ रहने और अग्रसर होने की निर्भीकता और क्षमता चन्द्रगुप्त में पर्य्याप्त है। वह रामगुप्त के सामने ही शिखरस्वामी को ललकारता है—'अमात्य, तभी तो तुमने व्यवस्था दी है, कि महादेवी को देकर भी सन्धि की जाय! क्यों यही तो विनय की पराकाष्ठा है! ऐसा विनय प्रवञ्चकों का आवरण है जिसमें शील न हो।' कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ हो वह लक्ष्य प्राप्ति के लिये प्रत्येक सम्भव उपाय का अवलम्ब लेने में नहीं हिचकता। वह ध्रुवस्वामिनी के कृत्रिम वेश में शकराज के अन्तःपुर में प्रविष्ट हो जाता है और वहाँ अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट कर वह शत्रु को ललकारता है—"मैं हूँ चन्द्रगुप्त, तुम्हारा काल! मैं अकेला आया हूँ, तुम्हारी वीरता की परीक्षा लेने के लिए।" ध्रुवस्वामिनी भी चन्द्रगुप्त के साथ शकराज के यहाँ चरम प्रतिकार के लिए जाती है किन्तु चन्द्रगुप्त को शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए ध्रुवस्वामिनी की किञ्चित अपेक्षा नहीं है। वह उसके विरोध को ठुकरा कर ही उसके साथ वहाँ जाती है। कुलसम्मान-रक्षा की तरह नारी-सम्मान रक्षा के लिए भी वह सदैव कटिबद्ध रहता है। पराक्रमी और शक्तिसम्पन्न होते हुए भी वह अपने भाई रामगुप्त की आज्ञा के अनुसार अपने को लौह-शृंखलाबद्ध तो करवा लेता है किन्तु उसी परवशता में जब उसके समक्ष ध्रुव-स्वामिनी का खुला अपमान होने लगता है—वह बन्दी की जाने लगती है; तब चन्द्रगुप्त के विनय और धैर्य्य का बाँध टूट जाता है और वह लौह—शृंखलाओं से अपने को मुक्त करता हुआ अन्यायियों को ललकारता है। वह शिखरस्वामी से कहता है—"तुम्हारी नीचता अब असह्य है। तुम अपने राजा को लेकर इस दुर्ग से

सकुशल बाहर चले जाओ।" वह रामगुप्त को भी न्याय के लिए पुकारता है—"आज तुम राजा नहीं हो। तुम्हारे पाप प्रायश्चित्त की पुकार कर रहे हैं। न्यायपूर्ण निर्णय के लिए प्रतीक्षा करो और अभियुक्त बनकर अपराधों को सुनो।"

चन्द्रगुप्त स्वभावतः गम्भीर और शान्तिप्रिय है। शकराज को पराजित करने के बाद भी वह राजनीतिक प्रपञ्चों में नहीं पड़ना चाहता और वह बिना अपने अधिकारों की माँग किए चुपचाप हट जाना चाहता है। वह राजत्याग के रूप में प्रदर्शित अपनी अनुपम उदारता का पुरस्कार बन्दी की सी दशा प्राप्त करता है; 'प्रत्येक क्षण उनके प्राणों पर सन्देह करता है', किन्तु वह इससे विचलित नहीं होता। वह वस्तुतः कुल मर्य्यादा एवं नारी के सम्मान की रक्षा के लिए ही संघर्ष में पड़ता है। यह उसके चरित्र की एक बड़ी महत्वपूर्ण बात है कि जितना ही वह शान्त, गम्भीर और उदार है, वह अवसर पड़ने पर उससे कहीं अधिक निर्भीक वक्ता, कठोर नियामक और दृढ़व्रती हो जाता है।

चन्द्रगुप्त का अभ्यन्तर जिस प्रकार उदात्त गुणों का अधिष्ठान है उसी प्रकार उसका बाह्य भी मनोहर और कमनीय है। वह ध्रुवस्वामिनी की दृष्टि में 'निरभ्रप्राची का बाल अरुण' है। उसका 'विश्वासपूर्ण मुखमण्डल' सभी को अपनी ओर आकृष्ट करने की सहज क्षमता रखता है। उसके शारीरिक सङ्गठन की सुडौलता और सुन्दरता को लक्षित कर ही हिजड़ा उसे स्त्री—वेश धारण करने के लिए सर्वोपयुक्त समझता है। वेश परिवर्तन करने पर तो शकराज भी उसको नहीं पहिचान पाता।

ध्रुवस्वामिनी के प्रति चन्द्रगुप्त का प्रेम प्रथम साक्षात्कार के समय से है। स्वभाव में अत्यन्त गम्भीर होने पर भी वह एक स्थल पर अपना मनोभाव प्रकट ही कर देता है—"मेरे हृदय के अन्धकार में प्रथम किरण सी आकर जिसने अज्ञात भाव से अपना

मधुर आलोक डाल दिया था.............।" ध्रुवस्वामिनी भी चन्द्रगुप्त के रूप और गुणों के कारण उससे प्रभावित है और हृदय से उसी को चाहती है। दोनों में जिस प्रकार रूप और गुणों की समता है उसी प्रकार दोनों की स्थिति और जीवन विकास का क्रम भी एक ही से हैं। दोनों ही राज्यचक्र में एक साथ पिसते हैं, दोनों ही एक साथ मृत्यु-गह्वर में प्रवेश करने के लिए जाते हैं और अन्त में दोनों ही एक साथ अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा ऊँचा कर जीवन में सुख, शान्ति और सौभाग्य प्राप्त करते हैं। दोनों की ही दुःख सुख की दशाओं में समान स्थिति है। जीवन के आरम्भ में कष्टपूर्ण परिस्थिति का कारण चन्द्रगुप्त का अतिशय विनयाचरण और उदारता है। विनय के आतिशय्य से वह अपनी वास्तविकता भी नहीं व्यक्त करता। परिस्थितियों से विवश होकर वह स्वयं सोचता है—"नहीं, यह शील का कपट, मोह और प्रवञ्चना है! मैं जो हूँ वही तो नहीं स्पष्ट रूप से प्रकट कर सका यह कैसी विडम्बना है।" अनीति के अतिचार से जब वस्तुस्थिति नितान्त विपरीत दिशा की ओर जाती हुई प्रतीत होती है तभी चन्द्रगुप्त अपने वास्तविक स्वरूप को ग्रहण कर राज्य-अधिकार और ध्रुवस्वामिनी प्राप्त करता है।

चन्द्रगुप्त के चरित्र में नाटककार ने व्यक्तित्व की वह तीव्र महत्ता नहीं प्रकट की जो ध्रुवस्वामिनी के चरित्र को प्राप्त है। इसका कारण सम्भवतः यही है कि 'ध्रुवस्वामिनी' एक नायिका प्रधान नाटक है और इस नाते उसकी नायिका ध्रुवस्वामिनी को ओजस्वी व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। उसके समक्ष अन्य पात्रों का चरित्र-गौरव फीका जंचता है। वस्तुतः नाटक के पुरुष पात्रों में सबसे ओजस्वी व्यक्तित्वपूर्ण चरित्र-विकास चन्द्रगुप्त का ही है और नाटककार को इसमें भी यथेष्ट सफलता मिली है।

रामगुप्त

रामगुप्त नाटक का खल-पात्र है। वह कपटाचरण एवं प्रवञ्चना द्वारा अधिकारी व्यक्ति चन्द्रगुप्त के स्थान पर स्वयं ही गुप्त-कुल के राजसिंहासन पर अधिष्ठित हो जाता है और अपने समय की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी ध्रुवस्वामिनी पर अधिकार पा जाता है। नाटक में उसका समस्त कार्य व्यापार विलासिता, धूर्तता, कायरता और क्रूरता की कुटिल-कहानी है। वह उच्च आदर्श हीन है तथा सदैव शिखरस्वामी जैसे धूर्त चाटुकारों के आश्रय से ही अपनी कार्यसिद्धि के उपाय खोजा करता है।

गुप्त-कुल का सिंहासन रामगुप्त अवश्य प्राप्त करता है किन्तु कुल की परम्परागत विशिष्टताएँ उसमें एक भी नहीं है। वह अपना अधिकांश समय सुरा, सुन्दरियों अथवा हिजड़े, बौने, कुबड़े आदि पुरुषत्व विहीन व्यक्तियों के बीच व्यतीत करता है। अन्तःपुर की छलनाओं में पड़ा हुआ, लुक छिपकर बातें तो वह सुनता है पर राज्य के चिन्ताजनक समाचार निवेदित किए जाने की बात सुनकर वह प्रतिहारी को डाँट देता है—"तुमसे मैंने कह न दिया कि अभी मुझे अवकाश नहीं, ठहर कर आना।"

रामगुप्त नितान्त पुरुषार्थ विहीन है। वह दिग्विजय के लिए तो निकलता है पर शकराज द्वारा चारों ओर से घिर जाने की बात सुनकर शत्रु के प्रतिकार की चेष्टा नहीं करता। वह शत्रु के अत्यन्त लज्जाजनक प्रस्ताव को—ध्रुवस्वामिनी के समर्पण को—भी स्वीकार कर लेता है। शत्रु के शिविर में ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त को चेष्टापूर्वक भेज कर वह अपनी बड़ी राजनैतिक विजय मानता है। उसकी राजनीति पोच और प्रवञ्चनापूर्ण है। मन्दाकिनी उसकी राजनीति को लक्ष्य करके ठीक ही कहती है—"वीरता जब भागती है तब उसके पैरों से राजनीतिक छल-छन्द की धूलि उड़ती है।"

चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के प्रति रामगुप्त का व्यवहार बड़ा कृतघ्न और निष्ठुरतापूर्ण है। जिस भाई चन्द्रगुप्त ने उसके लिए राज्यपद और अपनी वाग्दत्ता पत्नी की उपेक्षा कर दी, उसी की हत्या करवाने के लिए वह दिग्विजय का स्वाँग भरता है और अन्त में वह उसे शत्रु-शिविर में बलपूर्वक भेज देता है। शक-शिविर में ध्रुवस्वामिनी के भी जाने की स्पष्ट आज्ञा सुनकर जब चन्द्रगुप्त स्वयं जाना अस्वीकार करता है तो रामगुप्त अधिकारपूर्ण ढङ्ग से उससे वहाँ जाने को कहता है—"नहीं यह मेरी आज्ञा है। सामन्त कुमारों के साथ जाने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।" वह स्वार्थान्ध होकर चन्द्रगुप्त को सदैव शङ्काकुल दृष्टि से देखता है; और ध्रुवस्वामिनी के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति सहानुभूति का परिचय प्राप्त करने पर तो वह उसे भी अपने स्वेच्छाचारी मार्ग का रोड़ा समझ, निकाल फेंकना चाहता है। ध्रुवस्वामिनी की भर्त्सनाएँ और आर्त-पुकार वह बहरे कानों से सुनता है। समस्त नीति, सदाचार, धर्म आदि की बातों को ताक पर रखकर वह बड़ी निष्ठुरतापूर्वक ध्रुवस्वामिनी से कहता है—"नहीं, नहीं। जाओ तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ। इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो।" रामगुप्त की क्रूरता और निष्ठुरता का वह चरम निदर्शन है जब वह पराजित निरीह शकों के साथ देवतुल्य मिहिरदेव और कुसुमसुकुमारी कोमा जैसी बालिका की निर्मम हत्या करवा देता है।

धूर्त एवं चाटुकार शिखरस्वामी के अतिरिक्त रामगुप्त का अपना कोई नहीं है। उसे किसी पर विश्वास नहीं है और उसके दुराचरणों के कारण कोई उसे न तो चाहता है और न हृदय से उसका आदर ही करता है। उसकी क्रूरताओं और कपटाचरणों से अधीर होकर राज्य के परम विश्वासी अनुचर सामन्तकुमार भी उससे विद्रोह कर बैठते हैं। पुरोहित उसके पुंसत्व विहीन कदा-

चारों की कथा सुनकर उसे 'गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राज-किल्विषी क्लीव", घोषित करता है। समस्त परिषद् न्यायपूर्ण दृष्टि से उसके कुकृत्यों का निरीक्षण कर उसके विषय में एक मत से निर्णय देता है—"अनार्य पतित और क्लीव रामगुप्त, गुप्त-साम्राज्य के पवित्र राज्य-सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं।"

रामगुप्त की स्वार्थभावना बड़ी प्रबल है और कूटचातुरी में उसकी दुष्ट प्रतिभा बड़ी सचेष्ट रहती है। उसे जैसे ही शक अवरोध की सूचना मिलती है तथा शकराज का प्रस्ताव अवगत होता है, वह तत्काल एक ही चाल से अपने दो विरोधियों—चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी—के अन्त करने और तीसरे शत्रु शकराज को सन्तुष्ट करने की बात सोच लेता है। वह शिखरस्वामी को समझाता है—"शकदूत सन्धि के लिए जो प्रमाण चाहता हो उसे अस्वीकार न करना चाहिए। ऐसा करने में इस सङ्कट के बहाने जितनी विरोधी प्रकृति है उन सब को हमलोग सहज में ही हटा सकेंगे।" "तुम्हारी राजनीतिज्ञता इसी में है कि भीतर और बाहर के सब शत्रु एक ही चाल में परास्त हों।"

दुर्नीति और कायरता की नींव पर अवस्थित अधिकार अल्पकालीन होता है। कुटिल नीति भी पुरुषार्थ और पराक्रम सापेक्ष है।' रामगुप्त में उसका सर्वथा अभाव है। सभी ओर से अपराधी और निन्दनीय घोषित किए जाने पर जब रामगुप्त की प्रतिशोध भावना उसे चन्द्रगुप्त की हत्या करने को उत्तेजित करती है तब भी वह शूरों के समान प्रत्यक्ष रूप से नहीं वरन् वामगति से चन्द्रगुप्त पर प्रहार करने की चेष्टा करता है। वह अपनी इस दुश्चेष्टा में एक सामन्तकुमार द्वारा मार डाला जाता है और इस प्रकार नाटकीय कथावस्तु के साथ उसके जीवन का अन्त आदर्श सम्मत है। नाटक के प्रति नायक रूप में उसके चरित्र में नायक विरोधी समस्त दुर्गुणों को चरम उत्कर्ष प्राप्त है।

शिखरस्वामी

शिखरस्वामी गुप्त-कुल का अमात्य है। वह ऐसे उत्तर-दायित्व एवं महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होकर भी तदनुकूल व्यवहार नहीं करता। उसकी राजनीतिक प्रतिभा का दुरुपयोग असत्य के समर्थन, प्रवञ्चना, एवं चाटुकारिता के रूप में होता है। यह वस्तुतः रामगुप्त की कुटिल योजनाओं का विधायक है तथा उसी के कण्ठ में कण्ठ मिलाकर सर्वत्र अनीति तथा अन्यायपूर्ण आचरणों को समर्थन एवं प्रोत्साहन देता है।

शिखरस्वामी सबके विरुद्ध रहने पर भी स्वर्गीय आर्य समुद्रगुप्त की आज्ञा के प्रतिकूल राज्यपद प्राप्त करने के लिये रामगुप्त का समर्थन करता है। रामगुप्त की मर्य्यादा एवं नीति-विरोधी बातों को वह समझ कर भी उसका विरोध नहीं करता। सम्भवतः उसमें आत्मबल का भी अभाव है। शकराज को ध्रुवस्वामिनी के दे देने का निश्चय रामगुप्त से सुन कर वह एक बार दबे स्वर में कहता है—"भविष्य के लिए यह चाहे अच्छा हो; किन्तु इस समय तो हमलोगों को बहुत से विघ्नों का सामना करना पड़ेगा।" किन्तु शिखरस्वामी अपने इस विचार पर दृढ़ नहीं रहता और शीघ्र ही रामगुप्त की कूटनीति को सफल बनाने में संलग्न हो जाता है।

रामगुप्त का पादानुसरण करने के कारण शिखरस्वामी में भी प्रथम के समान ही निर्लज्जता, धूर्तता, कुटिलता आदि हैं। वह ध्रुवस्वामिनी के समक्ष बड़ी निष्ठुर निर्लज्जता के साथ उनके शक-शिविर जाने का बलपूर्वक समर्थन करता है। शिखरस्वामी की "राजनीति की दृष्टि से महादेवी का वहाँ जाना आवश्यक है।" उसकी "राजनीति के सिद्धान्त में राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने

का आदेश है। उसके लिए राजा, रानी, कुमार अमात्य सब का विसर्जन किया जा सकता है; किन्तु राज-विसर्जन अन्तिम उपाय है।" वह दूसरों को तो बतलाता है "विनय गुप्त-कुल का सर्वोत्तम विधान है" पर स्वयं यह व्यवस्था देता है कि "महादेवी को देकर भी सन्धि की जाय।" राजा और राष्ट्र-रक्षा की दुहाई देकर कुल-परम्परा एवं नैतिक आदर्शों के विरुद्ध कार्यों के लिए सम्मति देना शिखरस्वामी जैसे धूर्त और चाटुकार अमात्य का ही कार्य हो सकता है।

शिखरस्वामी में अवसर एवं परिस्थितियों के अनुकूल बात करने की अपूर्व क्षमता है। ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त एवं सामन्त कुमारों को एकत्रित एवं उन्हें परस्पर रामगुप्त विरोधी बातें करते देखकर वह दर्प द्वारा उन्हें वश में करने की चेष्टा करता है। वह सामन्तकुमारों को डाँटकर कहता है—"चुप रहो! क्या तुमलोग किसी के बहकाने से आवेश में आगए हो? (चन्द्रगुप्त की ओर देखकर) कुमार! यह क्या हो रहा है?" इसी प्रकार वह पुरोहित को धर्मशास्त्रानुमोदित बात स्पष्ट रूप से कहने के कारण घुड़की देता है—"मैं कहता हूँ कि तुम चुप न रहोगे तो तुम्हारी भी यही दशा होगी।" परन्तु जैसे ही चन्द्रगुप्त बन्धनमुक्त हो जाता है और विरोधी पक्ष प्रबल दिखाई पड़ता है कि शिखरस्वामी तत्काल चन्द्रगुप्त से बड़े शान्त और विनीत भाव से समझौते की बातें करने लगता है—"कुमार! इस कलह को मिटाने के लिए हमलोगों को परिषद् का निर्णय माननीय होना चाहिए।" वह कुमार को फुसलाने की भरपूर चेष्टा करता है और बड़े कोमल शब्दों में आदर्श व्यवहार की बात कहता है—"बीती हुई बातों को भूल जाने में ही भलाई है। भाई-भाई की तरह गले से लगकर गुप्तकुल का गौरव बढ़ाइए।" शिखरस्वामी की ये बातें अवसरवादी हैं और इनमें उसके हृदय की कुटिलता स्पष्टरूप से परिलक्षित होती है।"

रामगुप्त का चतुर्दिक विरोध होने के साथ ही जब परिषद् भी उसे अपराधी और राज्य-पद का अनधिकारी घोषित करता है तब शिखरस्वामी रामगुप्त को समझाने की चेष्टा करता है—"परिषद् का विचार तो मानना ही होगा।" वास्तव में शिखर-स्वामी ने नाटक भर में यही एक यथार्थ बात कही है। किन्तु इसमें भी रामगुप्त के हित की अपेक्षा आत्मरक्षा की चिन्ता ही विशेष लक्षित होती है। शिखर नहीं चाहता कि समस्त राज्य-चक्र के समक्ष वह भी रामगुप्त के साथ अपराधी सिद्ध हो। सम्भवतः उसके इसी एक सत्य-कथन से उसे अपनी दुर्नीति का कुफल रामगुप्त की भाँति नहीं भोगना पड़ता है अन्यथा वह भी निस्सन्देह उसी का अधिकारी है।

शकराज

शकराज महत्वाकांक्षी, रणकुशल, एवं कूटनीतिज्ञ है पर साथ ही वह क्रूर, दुर्विनीत एवं विलासी प्रकृति का भी है। उसके चरित्र में दुर्गुणों का ही प्राबल्य है अतः उसकी सफलताएँ पराजय में परिणित हो जाती हैं।

शकराज अपने पूर्वजों की भाँति अपने पराक्रम द्वारा शत्रुओं को प्रताड़ित कर प्रतिशोध लेने का अभिलाषी है। पराक्रम पुरुषार्थ सापेक्ष है। अपर के अभाव में पूर्व का निदर्शन असम्भव है। शकराज 'पुरुषार्थ को ही सब का नियामक समझता' है। वह कहता है कि "पुरुषार्थ ही सौभाग्य को खींच लाता है।" वह अपने पुरुषार्थ पूर्ण पराक्रम एवं रणकुशलता द्वारा रामगुप्त की समस्त सेना को गिरि पथ पर रोककर चतुर्दिक अवरोध द्वारा उसके शिविर का सम्बन्ध राजपथ से काट देता है। शत्रु को इस प्रकार विवश कर वह अपनी कूटनीति द्वारा शत्रु पक्ष का धन और जन लेने के साथ ही उसका कुल-गौरव भी हस्तगत करने की योजना प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार एक सेनानी के रूप में वह आंशिक रूप से सफल है।

विलासिता के पङ्क में डूबा हुआ पराक्रम अपना सौन्दर्य खो देता है। इसके साथ ही अनीति के अतिचार से भी पराक्रम महत्वशून्य हो जाता है। शकराज के व्यक्तित्व में विलासिता और अनीति के आधिक्य के कारण उसके पराक्रम का स्वरूप आछन्न हो जाता है। वह सुरा और सुन्दरियों का उपासक है। इतना ही नहीं, वह कोमा जैसी अनुरागिनी बाला की उपेक्षा कर बड़ी अधीरता के साथ ध्रुवस्वामिनी की प्रतीक्षा करता है। ध्रुवस्वामिनी के साथ चन्द्रगुप्त को नारी वेश में देख और उसे यथार्थ में नारी

ही मानकर वह ध्रुवस्वामिनी के अतिरिक्त उसको भी अपनी रानी के रूप में अङ्गीकार करने को प्रस्तुत हो जाता है। शकराज के इन कामुक व्यवहारों को देखने से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि उस पर विलासिता का गहरा आवरण है जो उसके पराक्रम को अपनी मोटी चादर में सर्वथा ढक लेता है।

विलासिता की सहजात दुर्वृत्तियां भी शकराज के हृदय पर डेरा डाले हैं। वह क्रूर और दुर्विनीत भी है। वह कोमा के प्रेम-पूर्ण अनुरोध को निष्ठुरता के साथ ठुकरा देता है। कोमा की भावुक प्रेमाभिव्यक्तियाँ उसके राजनीतिक प्रतिशोध की भावना से पाषाणीकृत हृदय को किञ्चित द्रवित नहीं करती। वह अपने आचार्य मिहिरदेव के नीतिपूर्ण निर्देशों को सुनना भी नहीं चाहता। वह बड़े दर्प के साथ मिहिरदेव को प्रत्युत्तर देता है—"बस, बहुत हो चुका! आपके महत्व की भी एक सीमा होगी। अब आप यहाँ से नहीं जाते हैं तो मैं ही चला जाता हूँ।" शकराज के इस कथन से उसकी दुर्विनीतिता भी प्रकट होती है।

शकराज हृदयशून्य व्यक्ति है। वह कोमा के प्रेम का वास्तविक प्रतिदान नहीं करता। कोमा के प्रति उसका प्रेमव्यवहार स्वार्थ और प्रवञ्चना-पूर्ण है। भोली भाली युवती कोमा को अपने वाग्जाल में फाँसकर वह उसका रूप-रस ही लेना चाहता है। कोमा को पूर्णतया अपने वश में कर लेने पर वह अन्य नारी की कामना करता है। प्रेम के वास्तविक स्वरूप एकनिष्ठता को तो वह मानों पहिचानता ही नहीं है।

विलासी और दुराचारी हृदय दुर्बल, भीरु और संशयालु हो जाता है। पुरुषार्थ की डींग हांकने वाला तथा सौभाग्य और दुर्भाग्य को मनुष्य की दुर्बलता के भय मानने वाला शकराज विलासिता और दुराचार के पथ पर चलने के कारण धूमकेतु के दर्शनमात्र से ही भयभीत हो जाता है। वह अमङ्गल की शान्ति

के लिए आचार्य को बुलवाकर उनके कथनानुसार चलने की प्रतिज्ञा करता है तथा कोमा से ही क्षमा प्रार्थना करता हुआ, उसकी सहायता की याचना करता है। निस्सन्देह उसके जीवन की यह दशा बड़ी उपहासास्पद और दयनीय है।

दुराचरण मनुष्य को समस्त गौरवविहीन कर उसके सर्वनाश का पथ ही प्रशस्त करता है। शकराज के जीवन में यह बात पूर्णतया घटित होती है। वह पुरुषार्थ मद से मदान्ध होकर, नीति, सदाचार और सदाशयता को जब तिलाञ्जलि दे देता है तभी उसके पराक्रम का गौरव और सफलता उससे एक साथ कोसों दूर भाग जाती है और वह सर्वनाश के महान अन्धगर्त में सदा के लिए जा पड़ता है। चन्द्रगुप्त द्वारा उसका वध उसकी दुर्नीति एवं दुर्वृत्तियों का चरम प्रतिकार है।

मिहिरदेव

आचार्य मिहिरदेव की महिमामयी तेजस्वी मूर्ति का साक्षात्कार नाटक में एक ही स्थल पर विशेष रूप से होता है। किन्तु फिर भी दार्शनिक-बुद्धि से उसकी जीवन-परख, निर्भीकता एवं उसका सरल प्राकृतिक जीवन-अनुराग उसके व्यक्तित्व की अमिट छाप को सामाजिकों के हृदय पर डाल जाते हैं।

मिहिरदेव आचार्य है। वह केवल नाम का ही आचार्य नहीं है वरन् उसमें सूक्ष्म दार्शनिक बुद्धि, सदाशयता, सिद्धान्त कथन की स्पष्टवादिता और स्वतन्त्र निर्भीकता है। उसे राज्य सम्पर्क प्राप्त है किन्तु उसे राज्याश्रय की अपेक्षा एवं आकांक्षा नहीं है। वह शकराज के द्वारा धर्माचार्य के रूप में सम्मानित है। अतः वह उसे बड़ी स्पष्टता के साथ नीतिमय उपदेश देता है—"राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो जिसका विश्व-मानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है। राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षणभर के लिए तुम अपने को चतुर समझ लेने की भूल कर सकते हो। परन्तु इस भीषण संसार में एक प्रेम करने वाले हृदय को खो देना, सबसे बड़ी हानि है। शकराज ! दो प्यार करने वालों के हृदय के बीच एक स्वर्गीय ज्योति का निवास है।" उसके कथनों में पाण्डित्य, जीवन की परख और निर्भीक मुखरता है। वह ललकार कर शकराज से कहता है—"सावधान होकर उसके परिणाम को सोच लो।" शकराज के व्यवहारों से ज्योंही वह यह अनुभव करता है कि उसे उससे सहानुभूति न मिलेगी वह तत्काल प्रकृति के निर्मुक्त अङ्क में उसकी शाश्वत उपासना के लिये प्रस्तुत हो जाता है। वह कोमा से कहता है "हम लोगों को लताओं, वृक्षों और चट्टानों से छाया और सहानुभूति मिलेगी। इस दुर्ग से बाहर चल।"

सरल जीवन में ही दार्शनिक बुद्धि का बहुधा उदय और प्रसार होता है। भारतीय प्राचीन दार्शनिक ऋषियों का जीवन-वृत्त इसका उदाहरण है। वाल्मीकि, व्यास, पातञ्जलि आदि भारतीय ऋषि प्रकृति की शान्त गोद में बैठे हुए मानव-जीवन का दर्शन कर उसकी गुत्थियाँ सुलझाते थे। मिहिरदेव आर्य्य ऋषि तो नहीं है पर नाटककार ने उसके रूप में ऋषि जीवन की ही मानों एक झलक दिखाई है। मिहिरदेव के हृदय की विश्रान्ति का स्थल प्रकृति का उन्मुक्त क्षेत्र है। वहीं सम्भवतः उसकी दार्शनिक बुद्धि पल्लवित और विकसित होती है। प्रकृति के लिए उसके हृदय में मानों एक अतृप्त लालसा और सरल जीवन के लिए अखण्ड अनुराग है। वह अपनी पालिता पुत्री कोमा से कहता है—"हमलोग अखरोट की छाया में बैठेंगे—झरनों के किनारे, दाख के कुञ्जों में विश्राम करेंगे। जब नीले आकाश में मेघों के टुकड़े, मानसरोवर जाने वाले हंसों का अभिनय करेंगे, तब तू अपनी तकली पर ऊन कातती हुई कहानी कहेगी और मैं सुनूंगा।"

मिहिरदेव ऐसे सात्विक विचार और आचरण वाले पुरुष का जीवनान्त बड़ी ही दुःखद और शोचनीय स्थिति में हो जाता है। वह कोमा के साथ ध्रुवस्वामिनी के पास शकराज का शव लेने जाता है। वहीं से लौटते हुये, मार्ग में रामगुप्त के आदेश से उसके सैनिक कोमा और मिहिरदेव को शक जाति का होने के नाते क्रूरतापूर्वक मार डालते हैं। कोमा, मिहिरदेव की पालिता पुत्री है। उसपर उसका सहज अनुराग है। उसकी कामना-पूर्ति में मिहिरदेव का शरीर अर्पण कर देना उसके व्यक्तित्व को ऊँचा उठा देता है। परमार्थ हित आत्म बलिदान मानव-जीवन को गौरव प्रदान करता है। इस नाते मिहिरदेव का व्यक्तित्व पूर्णतया गौरव-मण्डित है।

ध्रुवस्वामिनी

'ध्रुवस्वामिनी' रूपक का नामकरण नायिका के नाम पर है। नाटक की अधिकांश घटनाएँ उसी के जीवन का प्रत्यक्षीकरण कराती हैं; तथा नाटक के अन्य प्रमुख पात्र चन्द्रगुप्त, रामगुप्त, शकराज आदि द्वारा उसके चरित्र के विविध स्वरूपों का उन्मेष होता है। उसके चरित्र का विकास-क्रम स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक पद्धति पर है। व्यापार-बाहुल्य की दृष्टि से भी उसका चरित्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। नाटक की फलभोक्ता भी ध्रुवस्वामिनी है। अतः इस नायिका-प्रधान नाटक की नायिका ध्रुवस्वामिनी ही है।

ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में नारी-स्वभाव की कोमलता और सहिष्णुता के साथ ही नारी की आत्मसम्मान भावना का उत्कृष्ट निदर्शन है। एक ओर जहाँ उसमें पुरुष जाति की स्वार्थप्रेरित क्रूरताओं एवं कठोरताओं के सहन करने की अपूर्व क्षमता है वहाँ उसके साथ ही, आत्मगौरव की रक्षा के लिये, प्रखर बुद्धि-वैभव, निर्भीकता और साहस भी उसमें यथेष्ट रूप से है। नाटक के आरम्भ में ही ध्रुवस्वामिनी को हम नितान्त सङ्कटापन्न दशा में देखते हैं। ध्रुवस्वामिनी की प्रथम स्वगतोक्ति में उसकी विषादपूर्ण वाह्य एवं आभ्यंतर परिस्थितियों तथा तज्जन्य चिन्तनाओं का मार्मिक प्रत्यक्षीकरण है। उसे राजकुल में अपने लिए प्रवेशकाल से ही सर्वत्र 'सञ्चित नीरव अपमान' लक्षित होता है। उसे राजकुल में एक भी सम्पूर्ण मनुष्यता का निदर्शन' नहीं मिलता। उसके लिए जिधर देखो 'कुबड़े, बौने, हिजड़े, गूंगे और बहरे' मनुष्य ही हैं।

उसका पति रामगुप्त उसके प्रति सदैव संशयालु रहता है और कभी भी उससे सम्भाषण तक नहीं करता। ध्रुवस्वामिनी अपनी अपूर्व सहिष्णुता से जीवन की इन विषमताओं का धैर्य्यपूर्वक सामना करती है। उसके हृदय की तीव्र भावुक आकांक्षाएँ अकुलाकर मानों सो जाती हैं।

ध्रुवस्वामिनी के जीवन की इस दयनीय दशा के मूल में उसके दाम्पत्य जीवन की विषमता है। उसका पति रामगुप्त विलासी, मद्यप और क्रूर है। वह ध्रुवस्वामिनी को विविध यातनाओं के बन्धन में डालकर उसके बहुमूल्य जीवन की कदर्थना करता है। निस्सन्देह जिस सहिष्णुता, धैर्य्य और त्याग भावना से ध्रुवस्वामिनी जीवन की इन विषमताओं का सामना करती है वह सर्वथा सराहनीय है और इससे उसके व्यक्तित्व के प्रति सामाजिकों की सहानुभूति स्वतः समुद्भूत होती है।

ध्रुवस्वामिनी शारीरिक एवं मानसिक यन्त्रणाओं को तो धैर्य्य और साहस के साथ सहन कर लेती है किन्तु जब वह यह अनुभव करती है कि उसका आत्मसम्मान एवं सतीत्व दूसरे के पास उपहार स्वरूप, भेजा जा रहा है, तो उसका आत्म-गौरव सहसा सजग हो उठता है। ऐसे कदर्थनीय प्रस्ताव को सुनकर वह एक बार पुनः रामगुप्त से अपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करती है—"मेरी रक्षा करो मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो। राजा, आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ। ....मैं तुम्हारी होकर रहूँगी। राज्य और सम्पत्ति रहने पर राजा को—पुरुष को—बहुतसी रानियाँ और स्त्रियाँ मिलती हैं; किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता।" निष्ठुर रामगुप्त उसकी इस आर्तवाणी को सुनकर भी सुनना नहीं चाहता तथा उसे शकराज के पास भेज देने के सङ्कल्प की दृढ़ता

प्रकट करता करता है। अतः ध्रुवस्वामिनी के पास आत्मबल एवं आत्म-निर्भरता के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसी स्थल पर नाटककार ने आत्म-गौरव की भावना से प्रदीप्त ध्रुवस्वामिनी के व्यक्तित्व का वह भव्य स्वरूप प्रस्तुत किया है जो नारी-जगत के लिए एक गर्व की वस्तु है। वह रामगुप्त को तत्काल ही फटकार कर कहती है—"*निर्लज्ज! मद्यप!! क्लीव!!!* ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं? नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतलमणि नहीं हूँ। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्म-सम्मान की ज्योति है।' उसकी रक्षा मैं ही करूँगी।" एक बार परिस्थितियों का यथार्थ अनुभव कर जब वह आत्म-गौरव की रक्षा के लिए अपना कर्तव्यपथ निर्धारित कर लेती है तब वह बड़े साहस और बुद्धिमत्ता के साथ उस पर निर्भीक भाव से आगे बढ़ने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। वह पहिले तो छुरी मार कर आत्म-हत्या द्वारा अपने गौरव की रक्षा करने का विचार करती है किन्तु चन्द्रगुप्त के सहसा सामने आजाने के कारण वह उस कठोर कर्म से विरत हो जाती है। चन्द्रगुप्त को सामने देख कर उसके हृदय का मधुर-भाव पुनः सजग होकर उसमें जीवन मोह उत्पन्न कर देता है तथा आत्म-कौशल और बुद्धि-बल से वह विषम स्थितियों का सामना करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। चन्द्रगुप्त यद्यपि स्वयं अकेले ही शकराज के यहाँ ध्रुवस्वामिनी के वेश में जाना चाहता है किन्तु ध्रुवस्वामिनी एक क्षत्राणी के समान मृत्यु की विभीषिका से किञ्चित भी न डरती हुई स्वयं भी जाने को तय्यार हो जाती है। वह बड़े उत्साहपूर्ण शब्दों में चन्द्रगुप्त से कहती है—"हम दोनों ही चलेंगे मृत्यु के गह्वर में प्रवेश करने के समय, मैं भी तुम्हारी ज्योति बनकर बुझ जाने की कामना रखती हूँ और भी एक विनोद प्रलय का परिहास देख सकूँगी।" वह शक

शिविर में अपने कौशल द्वारा शकराज की हत्या में चन्द्रगुप्त की सहायक होती है।

विपत्तियाँ मानव जीवन की कसौटी हैं। जीवन का मूल्य सङ्कटपूर्ण संघर्षों में सफलता पाने से बढ़ जाता है। संकटों का सामना करने से साहस और आत्मबल की वृद्धि तो होती ही है, साथ ही बुद्धि-व्यापार का भी समुचित विकास होता है। ध्रुव-स्वामिनी की स्वाभाविक साहसशीला प्रवृत्ति का विकास आन्तरिक और बाह्य सङ्कटों का सामना करने से तो होता ही है, साथ ही उसका बुद्धि-कौशल भी क्रमशः विकसित हो जाता है। शकराज को विफल मनोरथ कर ध्रुवस्वामिनी अपने बुद्धि-कौशल से सामन्त कुमारों को उत्तेजित करती है। वह उनकी सहानुभूति और सहयोग प्राप्त कर लेती है। वह बाह्य शत्रु को पूर्णतया परास्त करने के पश्चात् अपने प्रति किए गए समस्त अन्यायों का प्रतिकार करने के लिए कटिबद्ध हो जाती है। वह राजपुरोहित के समक्ष अपने वैवाहिक जीवन की कदर्थना मार्मिक शब्दों में व्यक्त करती है और उसकी सहानुभूति प्राप्त करती है। पुरोहित धर्मशास्त्र का अवलोकन कर निष्पक्ष सम्मति देता है—"विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रान्तिपूर्ण बन्धन में बाँध दिया है। .... ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं।" ध्रुवस्वामिनी अपने प्रति अन्यायों का प्रतिकार करने के लिए अपने लिए सब ओर से अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करने के साथ ही चन्द्रगुप्त को भी अन्यायपूर्ण राजकीय आदेशों का प्रबल प्रतिवाद करने के लिए प्रोत्साहित करती है। वह चन्द्रगुप्त से बड़े उत्तेजना-पूर्ण एवं उत्साहवर्धक शब्दों में कहती है—'कुमार! मैं कहती हूँ कि तुम प्रतिवाद करो। किस अपराध के लिये दण्ड ग्रहण कर रहे हो।' निस्सन्देह ध्रुवस्वामिनी के प्रयत्नों से ही रामगुप्त और शिखरस्वामी की कूट-मन्त्रणाओं और कपटाचारों की कलई खुल

जाती है और उन्हें पूर्ण पराभव प्राप्त होता है। नारी अबला होकर भी अपने सम्मान की रक्षा और अन्यायों का प्रतिकार अपने आत्मबल, निर्भीकता और बुद्धिकौशल द्वारा कितनी सफलता के साथ कर सकती है, इसका सफल निदर्शन ध्रुवस्वामिनी के चरित्र-विकास में हुआ है।

नाटक में ध्रुवस्वामिनी का जीवन सङ्कटापन्न होने के कारण सतत संघर्षशील है। संघर्षमय जीवन में निरन्तर संलग्न रहने के कारण हमें उसके हृदय की ओजस्विनी एवं पुरुषार्थ प्रेरक प्रवृत्तियों का ही विशेष परिचय प्राप्त होता है। नारी हृदय की भावुक कोमलता का निदर्शन उसके चरित्र में स्वल्प है। उसके हृदय की मधुर भावनाओं का गला मानों उसके उदय काल में ही घोट दिया जाता है। 'निरभ्र-प्राची के बालारुण' के समान चन्द्रगुप्त की दीप्तिमयी मूर्ति के स्थान पर उसका वैवाहिक सम्बन्ध क्लीव, कापुरुष रामगुप्त से होता है। रामगुप्त के कठोर नियन्त्रण में अत्यन्त यातनापूर्ण जीवन व्यतीत करने के कारण उसके हृदय का मधुर—स्रोत शून्य सा जाता है और वह एक मरुस्थल के समान हो जाता है। चन्द्रगुप्त के प्रति उसके हृदय में सहानुभूति, उत्सुकता एवं ममत्वपूर्ण अनुराग पूर्णतया सन्निहित है किन्तु ध्रुवस्वामिनी के भावुक प्रेमोद्गार केवल एक ही स्थल पर प्रकट होते हैं। चन्द्रगुप्त को शक-शिविर एकाकी जाते हुए देखकर, वह तीव्र ममत्व की भावना से प्रेरित हो उसे अपनी भुजाओं में पकड़ कर कहती है—'नहीं, मैं तुमको न जाने दूंगी। मेरे क्षुद्र, दुर्बल नारी जीवन का सम्मान बचाने के लिए इतने बड़े बलिदान की आवश्यकता नहीं।" इस ममत्व प्रदर्शन में ध्रुवस्वामिनी का प्रेम-भाव ही विशेष झलकता है। चन्द्रगुप्त को इस आलिङ्गन प्रसङ्ग में उसे जो स्पर्शजन्य-सुखानुभूति होती है उसे व्यक्त करती हुई वह स्वगतोक्ति में कहती है—"कितना अनुभूति

पूर्ण था वह एक क्षण का आलिङ्गन! कितने सन्तोष से भरा था! नियति ने अज्ञात भाव से मानों लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन में सायंकालीन शीतल आकाश से मिला दिया हो।" वस्तुतः ध्रुवस्वामिनी का जीवन इतना घटना और संघर्ष-पूर्ण है कि नाटकीय कथावस्तु के अन्तर्गत उसके मधुर भाव की अभिव्यक्ति के अधिक अवसर ही नहीं प्राप्त होते। फिर भी नाटककार ने उसके ओजस्वी व्यक्तित्व में उसके हृदय के मधुर पक्ष की भी एक झांकी प्रस्तुत की है जिसके कारण उसका नारीत्व प्रकृत रूप में व्यक्त होगया है। ध्रुवस्वामिनी के चरित्र विकास में पूर्ण स्वाभाविकता है। नाटककार को उसमें पूर्ण सफलता मिली है।

मन्दाकिनी

मन्दाकिनी 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की एक सामान्य स्त्री-पात्र है। किन्तु वह अपनी न्याय-बुद्धि, निर्भीकता एवं कार्य-कुशलता से नाटक में महत्वपूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त करती है। 'न्याय का दुर्बल पक्ष ग्रहण' करने के लिए ही वह राजनीतिक प्रपञ्चों में पड़ती है। उसमें उसका कोई निजी स्वार्थ नहीं है। इससे उसके स्वभाव की निस्पृहता भी व्यक्त होती है।

नाटक के आरम्भ में ही मन्दाकिनी गूँगी (खड्गधारिणी) का अभिनय अत्यन्त कुशलता के साथ सम्पन्न कर चन्द्रगुप्त के प्रति ध्रुवस्वामिनी के अन्तःस्थित भाव को अवगत कर लेती है। इतना ही नहीं, वरन् वह कुमार के प्रति ध्रुवस्वामिनी के म्रियमाण स्नेह को सचेष्ट भी करती है, और उनके प्रति उसकी सहानुभूति और उत्सुकता सजग करती है। मन्दाकिनी द्वारा कुमार की मानसिक ग्लानि एवं वेदना तथा शारीरिक परवशता का समाचार अवगत कर ध्रुवस्वामिनी हठात् कह बैठती है—"किन्तु उन्हें कोई ऐसा साहस का काम न करना चाहिए जिसमें उनकी परिस्थिति और भी भयानक हो जाय।" ध्रुवस्वामिनी के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति इस प्रकार ममत्वपूर्ण सहानुभूति उत्पन्न करने से मन्दाकिनी की उत्कृष्ट कार्यकुशलता का परिचय मिलता है।

मन्दाकिनी अपने निर्मल विवेक द्वारा व्यक्तियों तथा परिस्थितियों की वास्तविकता यथार्थ रूप से शीघ्र ही अवगत कर लेती है। कुमार चन्द्रगुप्त और रामगुप्त को अपने अन्तःचक्षु से परखती हुई वह स्वगत रूप से यथार्थ ही कहती है— 'कुमार चन्द्रगुप्त! कितना समर्पण का भाव है उसमें? और उसका बड़ा भाई रामगुप्त कपटाचारी रामगुप्त! ...." इस प्रकार

मन्दाकिनी परिस्थितियों का यथार्थ रूप से अनुभव कर कर्म-तत्पर होती है—"मुझे हृदय कठोर करके अपना कर्त्तव्य करने के लिए यहाँ रुकना होगा।" वह अपनी निर्भीकता एवं कार्यकुशलता से अपना सङ्कल्प पूरा करने में पूर्ण सफल होती है। उसके प्रयास से न्याय का पक्ष विजयी होता है। गुप्त-कुल का पवित्र राज सिंहासन उसके वास्तविक अधिकारी चन्द्रगुप्त को प्राप्त होता है और कपटाचरण एवं अन्याय से उस पर स्वल्प काल के लिये अधिकार कर लेने वाला रामगुप्त पराभव को प्राप्त होता है।

निर्भीकता हृदय की सात्विक प्रेरणा है। निश्छल, निःस्वार्थ एवं न्याय-पथ पर निरन्तर आरूढ़ व्यक्तियों में ही इसका प्रादुर्भाव होता है। मन्दाकिनी के व्यक्तित्व में ऐसी ही निर्भीकता कूट कूट कर भरी है। वह अन्तःपुर की सामान्य परिचारिका होकर भी नीति एवं विवेक सम्मत बात को राजाधिराज के भी सामने स्पष्टता पूर्वक कहने में नहीं हिचकती। वह नाटक के अन्तिम दृश्य में भरी सभा में ललकार कर कहती है—"राजा का भय, मन्दा का गला नहीं घोट सकता। तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि होती तो इस अपनी कुल मर्यादा नारी को, शत्रु के दुर्ग में यों न भेजते। × × × × इस परिषद् से मेरी प्रार्थना है, कि आर्य समुद्रगुप्त का विधान तोड़ कर जिन लोगों ने राजकिल्विष किया हो उन्हें दण्ड मिलना चाहिए।" इसके पश्चात् वह समस्त सामन्तकुमारों के सम्मुख रामगुप्त के कपटाचरण एवं किल्विष की वह कलई खोलती है कि सब लोग उसे सुनकर स्तब्ध रह जाते हैं और सबको वास्तविकता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। निस्सन्देह निर्भीकता में मन्दाकिनी, ध्रुवस्वामिनी से किसी दशा में कम नहीं है। न्याय का पक्ष निर्भीकता के अभाव में विजयी नहीं हो सकता, मन्दाकिनी की सफलता के मूल में उसकी निर्भीकता ही है।

मन्दाकिनी का मानों विश्व में अपना कोई नहीं है। उसका सारा जीवन दूसरों की सेवा और सामञ्जस्य विधान में सदैव संलग्न रहता है। उसे ध्रुवस्वामिनी के हृदय में, चन्द्रगुप्त के प्रति स्नेह के सूक्ष्म संकेत ही प्रारम्भ में प्राप्त होते हैं। जब वह आगे की घटनाओं तथा वार्ता—प्रसङ्गों से यह निश्चयपूर्वक अनुभव कर लेती है, कि "निश्चय ही यह कुमार चन्द्रगुप्त की अनुरागिनी है," तब वह उसी उत्साह और कुशलता से चन्द्रगुप्त को ध्रुवस्वामिनी की वास्तविक प्रीति की प्रतीति कराने में तत्पर होती है। वह चन्द्रगुप्त को 'महादेवी बनने के पहिले ध्रुवस्वामिनी का जो मनोभाव था' उसका परिचय कराती हुई अत्यन्त उत्साहपूर्ण वचनों से उन्हें कर्तव्य ज्ञान कराती है—"हृदय में नैतिक साहस—वास्तविक प्रेरणा और पौरुष की पुकार एकत्र करके सोचिए तो कुमार! कि अब आपको क्या करना चाहिए।" निस्सन्देह मन्दाकिनी के प्रयास से ही ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के पारस्परिक प्रेम-मय जीवन का प्रसार होता है।

मन्दाकिनी के चरित्र सम्बन्धी एक विद्वान आलोचक के इस कथन को एकाङ्गी ही माना जायगा कि 'मन्दाकिनी तो केवल ध्रुवदेवी के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर बोलने वाली उसकी सहचरी मात्र है। उसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व है—ऐसा नहीं मालूम पड़ता................।" व्यक्तित्व-शून्य पात्रों की कल्पना 'प्रसाद' के उर्वर मस्तिष्क में विरल है। सामान्य वर्ग के पात्रों के अन्दर भी उदात्त मानवी गुणों की प्रतिष्ठा कर उन्होंने नाटकीय पात्रों के चरित्र को व्यक्तित्वपूर्ण बनाया है। मन्दाकिनी का चरित्र भी इसी कोटि का है। न्याय-पक्ष की विजय के लिये जो निःस्वार्थ-बुद्धि, निर्भीकता और कुशलता आपेक्षित है उसकी एक बहुत बड़ी मात्रा मन्दाकिनी में है। ध्रुवस्वामिनी की वह सहचरी है। मन्दा की कठोर एवं गम्भीर वाणी से ध्रुवस्वामिनी को बल भी

अवश्य प्राप्त होता है किन्तु इसकी तो अपर को नितान्त अपेक्षा भी है। स्वामिहित चिन्तन और उसके लिए तत्परतापूर्ण प्रयास मन्दाकिनी के व्यक्तित्व को ऊँचा उठा देते हैं। आभिजात्य का अभाव अथवा ममत्व की अभिलाष शून्यता किसी को व्यक्तित्व हीन नहीं ठहरा सकते।

किसी के चरित्र का गौरव अभिजात कुल या उच्च पद पर प्रतिष्ठित होने से ही नहीं होता। वह तो सर्वथा व्यक्ति विशेष के विचारों और कार्यों पर अवलम्बित रहता है। मन्दाकिनी न तो किसी अभिजात कुल की है और न उसे जीवन में उच्च पद ही प्राप्त है। किन्तु उसके चरित्र के उपर्युक्त विवेचना से यह तो स्पष्ट ही है कि उसके विचार न्याय-बुद्धि पर अवलम्बित हैं तथा परमार्थ प्रेरक हैं। वह विचारों के अनुरूप ही निर्भीकता एवं कुशलता से कार्य करती है। उसे अपने लक्ष्य में पूर्ण सफलता भी प्राप्त होती है। अतः उसका चरित्र परम गौरवशाली है।

कोमा

अनुभूतिमयी और दार्शनिक कोमा के चरित्र की कल्पना द्वारा 'प्रसाद' ने एक आदर्श नारी का चित्र प्रस्तुत किया है। नारी स्वभाव की सामान्य दुर्बलता—मोह—के साहचर्य में विवेक, विनम्रता, आत्मसमर्पण, दैन्य, त्याग आदि परम उदात्त सबल गुणों का निदर्शन उसके चरित्र में है। अतः उसका व्यक्तित्व सामाजिकों एवं पाठकों की स्मृति में अमरत्व प्राप्त कर जाने योग्य है।

वह आचार्य मिहिरदेव की पालिता पुत्री है और वह 'उन्हीं की शिक्षा में पली है।' अतः उसका दार्शनिक होना स्वाभाविक है। किन्तु कोमा की दार्शनिकता शुष्क नहीं है। वह जीवन-मधु की अनुभूति से संवलित है। वह अभावमयी लघुता में महत्त्वपूर्ण दिखाने का अभिनय करना इसीलिए पसन्द नहीं कर सकती क्योंकि उसे 'रूठने का सुहाग' कभी नहीं मिला। इसी कारण उसे 'संसार में बहुत सी बातें बिना अच्छी हुए भी अच्छी लगती हैं, और अच्छी बातें बुरी लगती हैं।" जीवन की इस गम्भीर अनुभूति के मूल में नारी स्वभाव की सहज दुर्बलता मोह या प्रेम है। प्रेम के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान रखते हुए भी वह नारी होने के नाते, उससे अपने को बचा नहीं सकती है। वह जानती है—"प्रेम! जब सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रकाशपुञ्ज उड़ेल देता है, तब सामने की और भी वस्तुएँ अस्पष्ट हो जाती हैं।" किन्तु फिर भी यह समझ कर कि—'प्रेम करने की ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच समझ कर चलना दोनों

एक बराबर हैं,' वह प्रेम पथ पर अपनी अनन्य भावना से पदार्पण करती है। एक बार प्रेम-पथ का पथिक बनकर उस पर जो 'निराशा, निष्पीड़न और उपहास' उसे मिलते हैं वह आत्मसमर्पण, दैन्य और त्याग के संबल से उन्हें सहती हुई प्रेम सफल निर्वाह करती है और पूर्ण नारीत्व की गौरवमयी झांकी प्रस्तुत करती है।

प्रेम के आलोक से चकाचौंध हो कोमा एक भयङ्कर भूल कर बैठती है। उसके प्रेम का आलम्बन, शकराज, उसके सर्वथा अनुपयुक्त है। वह निष्ठुर, स्वार्थी, विलासी और प्रमादपूर्ण है। कोमा आरम्भ में शकराज की दर्प से दीप्त, महत्वमयी पुरुष मूर्ति को ही देख कर उसकी पुजारिन बन जाती है। स्वार्थी और विलासी शकराज की 'स्नेह सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों ने' कोमा के 'मन के नीरस और नीरव शून्य में सङ्गीत की, बसन्त की और मकरन्द की सृष्टि की' तथा वह 'अनुभूतिमयी बन गई।' उसे यह आगे चलकर ही विदित होता है कि उसका यह भ्रम था। किन्तु कोमा इस भ्रान्तिशोध के पश्चात् भी न तो प्रेम-पथ से विरत होती है और न उसका विवेक ही कुण्ठित होता है। उसके चरित्र में प्रेम और विवेक का संतुलित चरम निदर्शन है। एक ओर जहाँ वह प्रेम की वेदी पर खड़े होकर आजीवन 'निराशा निष्पीड़न और उपहास' को मूक भाव से सहन करती हुई प्रेमी के शव के साथ शरीर त्याग करती है वहां दूसरी ओर वह प्रेमी के अन्यायपूर्ण कुकृत्यों का यथाशक्ति प्रतिकार करने की चेष्टा भी करती है और उसमें सफल न होने पर वह प्रेमी के आकांक्षा-पथ से स्वयं ही हट जाती है। उसके मानस में मोह और विवेक के बीच एक बार स्वाभाविक संघर्ष होता है। विवेक उसे जीवन का आदर्श पथ संकेतित करता है किन्तु प्रेम की पुष्प शृङ्खला उसे उस पथ पर पैर नहीं बढ़ाने देती। उसके इसी मानसिक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति नाटककार ने उसके द्वारा ही बड़े

मार्मिक शब्दों में छाया पद्धति से कराई है—"मैंने जिसे अपने आसुओं से सींचा, वही दुलार भरी वल्लरी, मेरे आँख बन्द कर चलने में मेरे पैरों से उलझ गई है। दे दूं एक झटका—उसकी हरी हरी पत्तियाँ कुचल जांय और वह धूल में लोटने लगे? ना, ऐसी कठोर आज्ञा न दो।" कोमा के अन्तःस्थित इस द्वन्द्व में विजय विवेक की होती है। वह शकराज की दर्पदीप्तिमयी पुरुष मूर्ति के स्थान पर स्वार्थ-मलिन कलुष, से भरी मूर्ति देख कर और उसे आशंका मात्र से कम्पित और भयभीत पाकर उसका पल्ला छोड़ देती है; वह अपने आचार्य का अनुगमन करती है। प्रेमी के पतन में सहायक होकर अथवा उसके अन्यायपूर्ण कुकृत्यों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से योग देकर वह नारी जाति के लिए लज्जा और निन्दा का विषय बन जाती। मोह पर विवेक की विजय आदर्श सम्मत है।

आत्मसमर्पण का उच्च आदर्श अपने जीवन में अपनाकर भी कोमा यथार्थ तथ्य निवेदन में विवेकपुष्ट निर्भीकता का परिचय देती है। वह अपनी स्वाभाविक विनम्रता के साथ शकराज के समक्ष वास्तविक सत्य को स्पष्ट रूप से कहने में नहीं हिचकती—"मेरे राजा! आज तुम एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए कैसा अनर्थ कर रहे हो?" इसी प्रकार जब दैन्यपूर्ण भाव से शकराज के शव की प्रार्थना करने पर वह ध्रुवस्वामिनी से उपेक्षिता होती है तब भी उसके सामने वह जीवन का कठोर सत्य कहने में नहीं चूकती—"रानी, तुम भी स्त्री हो। क्या स्त्री की व्यथा न समझोगी, आज तुम्हारी विजय का अन्धकार तुम्हारे शाश्वत स्त्रीत्व को ढंक ले, किन्तु सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीवाली जगती है।..........." कोमा अपनी निर्भीक मुखरता में भी मर्यादित और विनम्र है जो उसके उच्चशील

और शिक्षापूर्ण संस्कृति का परिचायक है। प्रेमी के निधन होने पर उसके शव के साथ आत्मविसर्जन द्वारा कोमा ने नारी जाति के गौरवपूर्ण आदर्श-त्याग का चरम स्वरूप प्रदर्शित किया है। कोमा का व्यक्तित्व, भावुक, उदार विवेकयुक्त और त्यागमय है। नारी-जीवन का जो मार्मिक प्रत्यक्षीकरण नाटककार ने उसके चरित्र में कराया है वह सर्वथा स्तुत्य है।

विशाख

विशाख एक सुशिक्षित ब्राह्मण युवक है। वह तक्षशिला में विद्यार्थी जीवन समाप्त कर लौकिक जीवन के क्षेत्र में अवतरित होता है। सद्शिक्षा के प्रभाव से उसमें सहानुभूति, परदुःख-कातरता, गुरुभक्ति, कर्त्तव्यपालन आदि सभी विशिष्ट गुण यथेष्ट रूप से हैं। 'उन्नति के लिए पहली दौड़ लगाने' के पहिले ही वह यह अनुभव कर लेता है कि "यौवन सुख के लिए नहीं है वरन् वह आशामय भावी सुखों के लिए कठोर कर्मों का संकलन है।" अतः जीवन में जो संकट एवं विघ्नबाधाएँ आती हैं वह दृढ़ता से उनका सामना करता है और अपने बुद्धि बल और पुरुषार्थ से वह अपने जीवन को क्रमशः उन्नतिपथ पर अग्रसर करता है।

परदुःखकातरता और सेवाभाव, जो सद्शिक्षा के प्राथमिक निदर्शन हैं, विशाख के चरित्र में प्रारम्भ से ही स्फुरित हैं। वह 'संसार में पदार्पण करने की प्रतिपदा तिथि में' ही चन्द्रलेखा और इरावती की दारिद्र्य-पीड़ित, सुन्दर किन्तु मलिन आकृतियों को देखकर सहानुभूति प्रेरित हो उनकी सहायता के लिए अग्रसर होता है। निस्सन्देह विशाख के ही उद्योग से चन्द्रलेखा, बौद्ध महन्त सत्यशील के चंगुल से छुटकारा पाती है और सुश्रुवा नाग को अपनी अपहृत भूमि वापिस मिलती है।

सुशिक्षित होने पर भी विशाख लोक व्यवहारों से पूर्ण परिचित नहीं है। उसके स्वभाव में एक अजीब अक्खड़पन है। इसी से वह जहाँ जाता है वहाँ मुँहठेठ बात कहने के कारण अन्य लोगों से उसकी मुठभेड़ हो जाती है। कानीर विहार के द्वार पर ही वह एक भिक्षु से उलझ जाता है। महापिङ्गल से प्रथम मिलन

के अवसर पर ही विशाख की जो बातें उससे होती हैं उससे स्पष्ट हो जाता है कि राजपुरुषों को अपने अनुकूल करने की भावना स्वतः उसमें नहीं है। परिस्थितियों द्वारा ही वह आपेक्षित कुशलता प्राप्त करता है। राजसभा में भी सत्य किन्तु अप्रिय कथन के कारण विशाख को मन्त्री द्वारा डाँट सुननी पड़ती है। किन्तु फिर भी विशाख को अपने मानापमान की उतनी चिन्ता नहीं जितना कार्य्य सिद्ध करने की। वह पुरुषार्थ पर दृढ़ आस्था रखने वाला है। वह समझता है कि 'संसार उन्नति का साथी है, और उद्योगहीन मनुष्य शिथिल हो जाता है।' अतः वह अपने उद्योग और पुरुषार्थ में सदैव संलग्न रहता है।

अपने हृदयस्थित सच्चे विचारों को दूसरों के सामने निर्भयता के साथ रखने वाला और अपनी आत्मा के आदेश के अनुसार कार्य्य करने वाला पुरुष ही निर्भीक कहा जा सकता है। विशाख इसी कोटि का मनुष्य है। वह जिस स्पष्टता के साथ बौद्ध महन्त सत्यशील, और राजा नरदेव के समक्ष उनके अन्यायपूर्ण कुकृत्यों का पर्दा खोलता है उससे उसके निर्भीक आत्मबल का परिचय मिलता है। वह भिक्षु से कहता है—"मैंने अच्छी तरह विचार कर लिया है कि आपको इतनी भूमि का अन्न खाकर और मोटा होने की आवश्यकता नहीं।" इसी प्रकार वह नाटक के तृतीय अङ्क के चतुर्थ दृश्य में न्यायासन पर बैठे हुए राजा नरदेव के एक प्रश्न का मुँहतोड़ उत्तर देता है—"नहीं जानता हूँ कि उस समय क्या उत्तर दिया जाय जब कि अभियोग ही उलटा हो और जो अभियुक्त हो—वही न्यायाधीश हो।" विशाख में स्वाभिमान की मात्रा भी इतनी प्रबल है कि वह चन्द्रलेखा को नरदेव के हवाले करने का प्रस्ताव करने वाले महापिंगल का मस्तक ही तलवार से काट लेता है। विशाख के स्वभाव में यौवन के प्रभाव से शीघ्र ही उत्तेजित होने की प्रवृत्ति है। वह चैत्य में बौद्ध भिक्षु निर्भयानन्द को मारने

विशाख में गुरुभक्ति अटल रूप से है। वह अपने गुरु प्रेमानन्द के उपदेशों को मंत्रवत् ग्रहण कर जीवन में उनके अनुसार कार्य करता है। परोपकार, निर्भयता, उदारता आदि सद्गुण उसके गुरु की ही देन हैं, जिनसे उसका चरित्र अलंकृत है। वह गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा एवं भक्ति रखता है। वह उनके सामने अत्यन्त विनम्रता पूर्वक उनके उपदेशों को ग्रहण कर उनका पालन करता है। वह प्रेमानन्द के ही आदेश से भिक्षु और नरदेव की हत्या नहीं करता तथा अपने हृदय की उत्तेजना को दबा जाता है।

नाटक का नायक विशाख है। उसमें नायकोचित प्रायः सभी विशेषताएँ हैं। वह विद्वान, पराक्रमी, पुरुषार्थी, विनम्र और धैर्य्यवान है, तथा वह परोपकार के लिए सदैव तत्पर रहने वाला है। नाटक की सभी प्रमुख घटनाओं से उसका सम्बन्ध है। नाटक के अन्य प्रमुख पात्र सत्यशील, महापिंगल, नरदेव, सुश्रुवा, प्रेमानन्द आदि उसके चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करने में सहायक होते हैं। नाटक का फल नायिका की प्राप्ति भी उसको ही होती है। विशाख को यद्यपि नाटक के फल रूप राज्यप्राप्ति तो नहीं होती किन्तु उसे बालक-राजा के शिक्षण का कार्य्य प्राप्त होता है, जो राज्य प्राप्ति के ही समान है। नाटककार ने नाटक का नाम उसके नाम पर ही रखा है, अतः विशाख ही निर्विवाद रूप से नाटक का नायक है।

'विशाख' 'प्रसाद' जी की प्रारम्भिक नाटकीय कृति है अतः उसमें पात्रों के चरित्र का विकास-क्रम सुस्पष्ट एवं सुव्यवस्थित नहीं है। पात्रों की स्वभावगत विशेषताओं का प्रत्यक्षीकरण निखरे हुए रूप में नहीं प्राप्त होता; अतः उनका व्यक्तित्व विशेष प्रभावोत्पादक नहीं बन पाया। 'विशाख' के चरित्र में भी सद्गुणों का स्पष्ट विकास नहीं है तथा उसके स्वभाव में जो कुछ दुर्बलताएँ हैं, वे इस रूप से निरन्तर सामने आती रहती हैं कि उनके कारण सद्गुणों का स्वरूप और भी धूमिल हो जाता है। यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि नायक के रूप में जैसा उत्कर्षपूर्ण विशाख का चरित्र होना चाहिए था वह नहीं हो सका।

नरदेव

'विशाख' नाटक के प्रथम अङ्क के द्वितीय दृश्य में सर्वप्रथम नरदेव एक कर्त्तव्य-परायण एवं न्यायनिष्ठ राजा के रूप में दिखाई पड़ता है। किन्तु बाद में सामान्य मानव-हृदय की सहज दुर्बलता—रूपमोह—के वशीभूत होजाने के कारण वह नैतिक पतन के गर्त में गिर जाता है। वह कर्त्तव्यपालन, न्यायभावना आदि सभी राजोचित गुणों से विहीन कामान्ध एवं अविवेकी दिखाई पड़ता है। आकस्मिक विपत्तियुक्त घटनाएँ तथा प्रेमानन्द के उदात्त सात्विक उपदेश एवं सहानुभूति पूर्ण व्यवहारों से उसका अविवेक दूर होजाता है और उसमें पूर्ण सात्विक बुद्धि का उदय होजाता है।

प्रजा-पालन और निष्पक्ष न्यायदान, राजा के प्रमुख कर्त्तव्य हैं। नरदेव के चरित्र में पहिले इन्हीं गुणों का निदर्शन है। विशाख द्वारा कानीर विहार के बौद्धमहन्त सत्यशील के कदाचारों की कुटिल कथा सुनकर नरदेव कर्त्तव्य एवं न्यायभावना से प्रेरित हो अत्यन्त तत्परता के साथ कहता है—'बस ब्राह्मणदेव पर्य्याप्त हुआ। (मन्त्री से) क्यों मन्त्रिवर! क्या यही प्रबन्ध राज्य का है? खेद की बात है। अभी इस ब्राह्मण की बातों की खोज की जाय, और गुप्त रीति से। देखो आलस न हो! हम स्वयं इसका न्याय करेंगे।" इतना ही नहीं, वरन् वह स्वयं बौद्ध विहार में जाकर चन्द्रलेखा को महन्त के चंगुल से मुक्त कराता है और अन्याय पूर्वक सुश्रुवा नाग की अपहृत भूमि उसे वापिस दिलाता है। नरदेव की न्यायबुद्धि पूर्ण सात्विक नहीं है। वह क्रोध और आवेश से परिपूर्ण हो एकांगी है। अतः सत्यशील जैसे असाधु महन्त के पापाचरण से उत्तेजित हो वह समस्त बौद्ध विहारों को जला देने की आज्ञा

देता है। प्रेमानन्द के अनुरोध एवं सात्विक उपदेश से वह अपनी उस क्रूर आज्ञा को वापिस लेता है और समस्त बौद्ध विहारों का अग्निदाह बन्द हो जाता है। नरदेव के इस कार्य से सभी साधु एवं महात्मा पुरुषों के प्रति उसकी आस्था भी प्रकट होती है। इसी सद्गुण के पूर्ण विकास होने पर उसका पूर्ण विनाश नहीं हो पाता।

ऐश्वर्य एवं वैभव सम्पन्न मनुष्यों के जीवन में विलासिता एक सामान्य दुर्गुण है। उनकी इस दुर्बलता के विकास में उनके कुछ पार्श्ववर्ती भी प्रायः सहायक हो जाते हैं। विलासिता के पंक में डूबा हुआ मनुष्य नीति एवं सदाचार से सर्वथा विहीन हो जाता है। नरदेव का भी जीवन प्रवाह इसी प्रकार का है। नर्तकियों के नृत्य और गान से मनोरंजन करने वाला नरदेव महापिंगल जैसे पतित चाटुकार सभासदों से घिरा रहता है। चन्द्रलेखा के लावण्यमय स्वरूप को देखते ही वह विवेक और न्याय बुद्धि को मानों तिला-ञ्जलि दे उसे प्राप्त करने के लिये आतुर हो जाता है। प्रलोभन द्वारा चन्द्रलेखा को प्राप्त करने में असफल होने पर नरदेव में कोमलता के स्थान पर कुटिलता और क्रूरता आजाती है। वह महापिंगल की सहायता से चन्द्रलेखा को प्राप्त करने के लिये अनेक कौशल रचता है। चैत्य में पूजन के लिये आई हुई चन्द्रलेखा के हृदय में भिक्षु द्वारा राजरानी बनने की भावना पैदा कराने का षडयन्त्र वह महापिंगल की सहायता से रचता है। इसमें भी सफलता न मिलने पर विशाख के पास महापिङ्गल को भेजता है, जिससे कि वह भय या लोभ से चन्द्रलेखा को उसे समर्पित्त करदे। नरदेव काम-वासना से इतना विवेकहीन होजाता है कि वह अपनी रानी का कल्याणपूर्ण उपदेश और निर्देश भी नहीं ग्रहण करता। यद्यपि यह ठीक है कि महा-पिंगल उसके कामजन्य अविवेक की वृद्धि में सहायक है किन्तु फिर भी प्रजापालक राजा होने के नाते उसका यह अत्यन्त जघन्य अपराध है कि वह अपनी एक प्रजा के सतीत्व और सम्मान

की खुली लूट के लिये प्रयत्नशील हो। नरदेव अपने कुकृत्यों का स्वयं ही उत्तरदायी है।

अनीति और अनाचार अपनी चरमावस्था को पहुँच कर कर्त्ता के अस्तित्व के लिये विस्फोट प्रस्तुत कर देते हैं। नरदेव अपनी दुर्नीति एवं दुराचारों से अपने विरुद्ध विनाश की भूमिका स्वयं प्रस्तुत करता है। धूर्त महापिंगल की हत्या का प्रतिकार वह विशाख को निर्वासन एवं प्राणदण्ड की आज्ञा देकर करना चाहता है। समस्त नाग जाति विद्रोही होकर सत्याग्रह के लिये प्रस्तुत हो जाती है। प्रेमानन्द के कल्याणप्रद सदुपदेश को वह अवज्ञा के कानों से सुनता है। उसकी प्रतिकार भावना प्रबल होकर क्रूरता का ताण्डव करने लगती है। वह शान्त किन्तु दृढ़ नाग जाति को न्यायालय से हटाने के लिये क्रूरता पूर्वक आदेश देता है—"मारो इन दुष्टों को।" परिणामस्वरूप नरदेव को ही अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला में परिवार सहित जलना पड़ता है। प्रेमानन्द और चन्द्रलेखा की साधुता और उदारता के कारण ही नरदेव और उसके पुत्र के प्राण बचते हैं।

पापाचरण का यथेष्ट दण्ड मिलने पर ही विकृत हृदय सुकृति की ओर उन्मुख होता है। अग्नि की लपटों में झुलस कर नरदेव पुनः तपाये हुये सोने की तरह खरा हो जाता है। उसका विवेक सजग होकर उसे हिताहित का यथार्थ ज्ञान कराता है। प्रेमानन्द के हितपूर्ण उपदेश एवं उदार व्यवहारों से उसकी आखें सदा के लिये खुल जाती हैं। वह मुक्त कंठ से स्वीकार करता है—"हाय हाय, मैंने क्या किया,—एक पिशाच-ग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी...।" इस प्रकार वह आत्मग्लानि व्यक्त कर सच्चे हृदय से प्रेमानन्द, विशाख और चन्द्रलेखा से अपने कुकृत्यों के लिये क्षमा मांगता है। नरदेव के चरित्र में यह परिवर्तन घटनाओं के घात-प्रतिघात और परिस्थितियों की प्रेरणा से है; अतः पूर्ण स्वाभाविक है।

प्रेमानन्द

प्रेमानन्द नाटक का महात्मा पात्र है। वह उच्च विचारशील एवं परोपकारी है। वह जीवन के उच्च आदर्शों के अनुरूप ही आचरण करने वाला है। नाटक के प्रायः सभी प्रमुख पात्र विशाख, नरदेव, सत्यशील आदि के राग, द्वेष, प्रमाद, लोभ आदि से पराभूत हृदयों को अपनी अमृतमयी शीतल एवं स्निग्ध वाणी से अभिसिञ्चित करता हुआ वह उन्हें आदर्श-जीवनपथ का पथिक बनाता है। 'विशाख' नाटक में प्रेमानन्द का व्यक्तित्व मानों एक प्रकाश-स्तम्भ के समान है जिसके प्रखर आलोक में नाटक के अधिकांश पात्र भटकते, भूलते हुए भी अपनी जीवन यात्रा का आदर्श-पथ प्राप्त करके कृतार्थ होते हैं।

प्रेमानन्द शाश्वत-संघ का अनुयायी है। प्रेम की सत्ता को संसार में जगाना ही उसका कर्त्तव्य है। वह अध्यापक जीवन सफलता पूर्वक व्यतीत कर परिव्राजक रूप में प्रकृति का दर्शन करने की अभिलाषा से पर्यटन करता है। जीवन में उसकी कोई निजी आकांक्षा या स्वार्थ नहीं है, अतः वह अपने विचारों का उपदेश बड़ी निर्भीकता एवं पक्षपात रहित होकर करता है। कानीर विहार में ही वह न्यायपथ का अवलम्बन करते हुए चन्द्रलेखा को मुक्त करने के लिये सत्यशील से निर्भीकता पूर्वक कहता है—"क्या तुम उस कन्या को न छोड़ दोगे? क्या धर्म की आड़ में प्रभूत पाप बटोरोगे?"

प्रेमानन्द का अपने शिष्य विशाख पर प्रभूत स्नेह है। वह उसे सदैव जीवन का सत्पथ प्रदर्शित करता है और जब कभी उसमें उत्तेजना एवं द्वेष का प्रादुर्भाव होता है तब वह अपने शीतल उपदेशमय वचनों द्वारा उसे शान्त करता है। वह विशाख को कर्मयोग के व्यावहारिक रूप का अनुकरण करने की शिक्षा देकर निर्भय रूप से

कर्त्तव्य करने का आदेश देता है। जब विशाख चैत्य में प्रवञ्चक भिक्षु को मारने के लिए तलवार उठाता है तो प्रेमानन्द उसे यह समझाते हुए रोक लेता है—'क्षमा सर्वोत्तम दण्ड है विशाख !' इसी प्रकार जब विशाख, नरदेव को अन्तिम दृश्य में अपने आश्रम में देखता है और द्वेष एवं प्रतिहिंसा प्रेरित हो उससे प्रतिशोध लेने के लिए प्रस्तुत होता है, तब प्रेमानन्द उसे समझाता है—"विशाख, वत्स ! प्रतिहिंसा, पाशवत्ति है। ......यदि मेरा कहा मानों, तो तुम सज्जनता के हृदय से इन्हें क्षमा करदो...।"

प्रेमानन्द मानों साक्षात् प्रेम-मूर्ति है। उसे किसी से द्वेष नहीं है। वह अपकारी और अनाचारी व्यक्तियों को भी अपने प्रेम-मय कोमल वचनों और व्यवहारों द्वारा अपने वश में कर लेता है। नरदेव अपने अन्यायपूर्ण कार्यों का शांत विरोध करने वाले प्रेमानन्द को अत्यन्त तिरस्कार पूर्ण शब्दों द्वारा न्यायालय से बहिर्गत होने की आज्ञा देता है—"चले जाओ सन्यासी, तुम क्यों व्यर्थ अड़ते हो। यह नहीं हो सकता। निकालो जी, इन्हें बाहर करो।" किन्तु प्रेमानन्द के हृदय में उसके प्रति सद्भावना और सहानुभूति न्यून नहीं होती। वह राजा को अग्नि में से घुस कर उठा लाता है और पीठ पर लाद कर चला जाता है। वह औषधि उपचार से उसे पुनः स्वस्थ कर देता है। प्रेमानन्द की शीतल वाणी और व्यवहारों के प्रभाव से नरदेव का कलुषित हृदय निर्मल हो जाता है तथा वह अपने वास्तविक उपकारी के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा व्यक्त करता हुआ अपने अपराधों के लिए क्षमा मांगता है—"देवदूत ! मेरे अपराध क्षमा कीजिए।...गुरुदेव, मैं आपकी शरण हूँ; मुझे फिर से शान्ति दीजिए।" प्रेमानन्द जैसे पारस रूप महात्मा के प्रभाव से लौहवत् कठोर हृदय वाला नरदेव काञ्चन-वत् कलुष विहीन एवं कान्तियुक्त व्यक्तित्व प्राप्त करता है।

प्रेमानन्द का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। सभी जाति के लोग उसके आदेशों को मन्त्रवत् ग्रहण करते हैं। नाग जाति नरदेव के अत्याचारों से पीड़ित हो सहसा क्रान्ति के लिए व्याकुल हो जाती है। प्रेमानन्द अपने मनोहर उपदेश द्वारा उन्हें अपने अनुकूल बनाकर उनकी हिंसक वृत्ति को उपशमित करता है। समस्त नाग जाति उसके आगे नतमस्तक हो उसके बताए हुए मार्ग पर चलना स्वीकार करती है। बौद्ध विहारों को जला देने की आज्ञा को नरदेव, प्रेमानन्द के समझाने से वापिस लेता है। प्रेमानन्द अपने सात्विक और प्रेममय उपदेशों से समष्टि और व्यष्टि की कल्याण साधना में पूर्ण सफल होता है। उसका व्यक्तित्व निस्सन्देह अत्यन्त गौरव-पूर्ण एवं श्रद्धा योग्य है। नाटककार ने उसके कल्पित चरित्र में अपने आदर्शों की प्रतिष्ठा कर व्यावहारिक जीवन में उनकी उपादेयता और प्रभविष्णुता सफलता पूर्वक अभिव्यक्त किया है। प्रेमानन्द का जीवन यद्यपि आदर्शों के उच्च धरातल पर ही सदैव संचरण करता हुआ दिखाई देता है पर लोक में ऐसे उदात्त विचारों वाले कर्मठ पुरुषों का अस्तित्व प्रायः देखा जाता है; अतः उसका जीवन-चरित्र अस्वाभाविक नहीं कहा जासकता।

महापिङ्गल

महापिङ्गल विनोदी, किन्तु धूर्त एवं चाटुकार राज सह-चर है। वह अपनी विनोद पूर्ण मुखरता द्वारा राजा नरदेव तथा उनके अन्य सभासदों का मनोरञ्जन करता है। वह स्वयं कामुक मनोवृत्ति का है तथा राजा की कामुक दुश्चेष्टाओं में उसका सहायक होता है। नाटककार ने विशाख द्वारा उसकी मृत्यु नाटक में प्रदर्शित की है। लोक की नीतिपूर्ण व्यवस्था के लिये समाज में महापिङ्गल जैसे कुटिल मनुष्यों की स्थिति सर्वथा अवाञ्छनीय है।

महापिङ्गल में अहम्मान्यता अत्यधिक मात्रा में है। अतः वह औरों के सामने आत्मगौरव और अभिमान भरी बातें खूब छाती फुला फुला कर करता है। इतना ही नहीं वह अपना अभिमान और गर्व दिखाने के लिये अकारण मिथ्या क्रोध भी प्रगट करता है। प्रथम अङ्क के द्वितीय दृश्य में उसकी इन वृत्तियों का परिचय स्पष्ट रूप से मिलता है। विशाख को देखते ही, पिङ्गल उस पर अपना प्रभाव जमाने के लिये आत्मप्रशंसा के पुल बाँध देता है और विशाख को अपने से हीन सिद्ध करने के लिये उसे दो-चार खोटीखरी भी सुना देता है। आत्माभिमानी स्वयं अपनी प्रशंसा करने के अतिरिक्त दूसरों से भी अपने सामने ही अपनी श्लाघा सुनने का इच्छुक रहता है और उसे प्राप्त कर वह हर्ष प्रकट करता है। विशाख, पिङ्गल से कहता है—"मैंने आपके गाने की बड़ी प्रशंसा सुनी है, इसी से—हाँ।" पिङ्गल प्रसन्न होकर तत्काल कहता है—'तुम रसिक भी हो। अच्छा 'अच्छा, सुनाऊँगा, ठहरो चित्त

उसके अनुकूल हो जाय। मिथ्या आत्माभिमान क्षुद्र बुद्धि का परिचायक है।

महापिङ्गल स्वयं कामुक है और भीषण चाटुकार है। वह अपनी चाटुकारिता से राजा की दुर्वासनाओं को प्रोत्साहन देकर सर्वथा अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। वह चन्द्रलेखा की बहिन इरावती के प्रति विषयासक्त होता है। साठ वर्ष की वृद्धावस्था में, परिणीता भार्या के होते हुए भी अन्य स्त्रियों के प्रति प्रेमाभिनय करना उसके चरित्र के नैतिक खोखलेपन का परिचायक है।

महापिंगल की चाटुकारिता तो मानों प्रकृतिसिद्ध है। उसे अपनी चाटुकारिता पर गर्व है। वह विशाख से कहता है—"महाराज को हमारे ऐसे यदि दो चार चाटुकार सामन्त न मिलते तो उन्हें बुद्धि का अजीर्ण हो जाता, उनकी हाँ न मिलाने से फिर भयानक बात की संग्रहणी हो जाती है, और निरीह प्रजा से अनेक विधानों से कर न मिलने के कारण उन्हें उपवास करके ही अच्छा होना पड़ता है।" महापिंगल कोरी हाँ—में—हाँ मिलाने वाला ही नहीं है वरन् वह राजा की कामुक दुर्वासनाओं को प्रोत्साहित करता है और स्वयं उसका सहायक बनता है। वह राजा को रमण्यादवी में ले जाकर चन्द्रलेखा के समक्ष प्रेम की प्रस्तावना आशीर्वाद—ब्याज से प्रस्तुत करता है—'अच्छा-तुम राजरानी हो।' अपने प्रथम प्रयास में निष्फल होने पर वह प्रवञ्चना और कूट चालों का आश्रय लेता है। भिक्षु को चैत्य में भेजता है जिससे कि चन्द्रलेखा के हृदय में राजा से सम्बन्ध स्थापित करने की भावना घर कर जाय। वह राजा की विषयासक्ति को अपनी चाटूक्तियों द्वारा

उत्तेजित करता रहता है। नरदेव जब मिथ्या एवं कलुषित प्रेम-भावना का अभिनय करता हुआ चन्द्रलेखा की आज्ञा से अपने पेट में कटार मार लेने की बात पिंगल से कहता है तो वह अपनी चाटूक्ति से मानों राजा के इस मिथ्या दम्भ को प्रोत्साहित करते हुए कहता है—'यथार्थ है, श्रीमान, उसे भीतर कीजिये नहीं तो मेरी बुद्धि घूमने चली जायगी।......हाँ, जी, कुछ ऐसा-वैसा नहीं प्रेम भी तो राजाओं का है।" महापिङ्गल की कुटिल चाटूक्तियों के कारण ही राजा नरदेव पर उसकी रानी के अनुरोध पूर्ण सदुपदेशों का प्रभाव नहीं पड़ता और वह कुमार्ग से विरत नहीं होता। महापिङ्गल की नीचतापूर्ण मूर्ख बुद्धि की वह पराकाष्ठा है जब कि वह विशाख के पास चन्द्रलेखा को समर्पित करने का प्रस्ताव अधिकारपूर्ण ढंग से जाकर रखता है। विशाख द्वारा महापिङ्गल की हत्या सर्वथा औचित्यपूर्ण है।

महापिंगल के चरित्र में नाटककार ने हास्योत्पादकता का भी विधान किया है। उसकी आत्मप्रशंसायुक्त गर्वोक्तियों में हास्य का पर्य्याप्त समिश्रण है। उसके कथनों में मिथ्याडम्बर, आत्मश्लाघा, पेटूपन कार्पण्य आदि की मुखर अभिव्यञ्जना है, जिससे हास्य का सम्यक् स्फुरण होता है। पिंगल के चरित्र में प्राचीन संस्कृत नाटकों के विदूपकों की स्पष्ट छाया है। राज-सहचर होने के साथ ही वह राजा की प्रेम लीलाओं में उसका सहयोगी और सलाहकार है तथा भोज्य पदार्थों में उसकी तीव्र अभिरुचि है। चन्द्रलेखा के यहाँ राजा के साथ जाते उसे बड़ी जोर की भूख लगती है। दूसरों के यहाँ भोजन करने की तो उसमें तीव्र तत्परता है पर अन्य लोगों को अपने यहाँ खिलाने का नाम सुनते ही वह मानों आसमान ही सर पर उठा लेता है। इससे उसकी कृपणता का का भी परिचय मिलता है। प्राचीन संस्कृत नाटकों में विदूपकों

का चारित्रिक पतन इस कोटि का नहीं होता जैसा कि पिंगल का है अतः वे नाटक के सम्मानित पात्र होते हैं। अभिज्ञान शकुन्तला का विदूषक–माधव्य-राजमाता के लिए पुत्रवत् सम्मानित है। महापिङ्गल को नरदेव की रानी कुटिल सभासद के रूप में देखती है और स्वयं उसके दण्ड-विधान का आदेश देती है। अतः आदर्श रक्षा हेतु पिंगल ऐसे खलपात्र की मृत्यु नाटक के अन्तर्गत प्रदर्शित करना अनुचित नहीं है।

सत्यशील

सत्यशील एक बौद्ध महन्त है। उसके चरित्र में बौद्धों के गुणों सात्विक का सर्वथा अभाव है तथा उनके स्थान पर महन्तों के दुर्गुणों का ही प्राधान्य है। करुणा, क्षमा, उदारता, परोपकार, विश्वमैत्री आदि सात्विक बौद्ध जीवन की विशिष्टताओं के स्थान पर उसमें स्वार्थ, लोभ, पाखण्ड, दुराचार, क्रूरता आदि प्रबल रूप से वर्तमान हैं। नागों की अपहृत भूमि विहार के लिये प्राप्त कर वह उसका उपभोग बड़े अधिकारपूर्ण ढङ्ग से करता है। उसे अपने खेतों की पगडण्डी पर से भी किसी का निकलना सह्य नहीं है। वह सुश्रुवा नाग को पगडण्डी पर से निकलने के कारण बड़ी उल्टी सीधी बातें कहता है और उसे बँधवा लेता है, तथा विशाख को खेत में खड़ा देख कर उससे भी उलझ पड़ता है।

सत्यशील पाखण्डी, दुर्विनीत और डरपोक भी है। वह दूसरों के समक्ष अपनी धार्मिकता प्रकट करने के लिए कहता है— "इससे हमारे जैसे अनेक धार्मिक और निरीह व्यक्तियों का निर्वाह होता है……" परन्तु वह वास्तव में न तो धार्मिक है और न निरीह। ऐश्वर्य के उपभोग से विलासिता और अनीति का भी अतिचार उसके चरित्र में है। सुश्रुवा नाग को बाँधते समय उसकी कन्या चन्द्रलेखा पिता की रक्षा के लिए आजाती है। सत्यशील उसके रूप लावण्य को देख कर उस पर आसक्त हो जाता है तथा सुश्रुवा को छोड़ कर उसे पकड़ ले जाता है और विहार की एक कोठरी में बन्द कर देता है। विशाख के मुँह से उसकी क्रूर पापलीला सुनकर जब प्रेमानन्द उसे समझा बुझाकर चन्द्रलेखा को छोड़ने का आग्रह करता है तब वह उनसे ही बड़ी अशिष्टता के

साथ व्यवहार करता है और चन्द्रलेखा को नहीं छोड़ता। पाप और अत्याचार का जीवन बालू की भीत के समान क्षणिक होता है। राजा नरदेव, विशाख द्वारा सत्यशील के क्रूर एवं पापमय जीवन की गाथा सुनकर स्वयं सत्यशील के विहार में आता है और चन्द्रलेखा को उसके चंगुल से मुक्त कराता है। सत्यशील मिथ्या भाषण द्वारा अपने बचाव का प्रयत्न करता है। वह राजा से कहता है—'नरेश यह प्रव्रज्या ग्रहण करने आई थी।' किन्तु उसके पापों का पर्दा खुल जाता है और राजा उसे बन्दीगृह में डलवाकर उसके विहार में आग लगवा देता है। इस प्रकार उसे अपने कुत्सित जीवन का सम्पूर्ण प्रतिफल प्राप्त हो जाता है।

नाटककार ने सत्यशील के जीवन में महन्तों के स्वार्थी, विलासी और प्रवञ्चनापूर्ण जीवन की एक झाँकी प्रस्तुत की है। यद्यपि उसका चरित्र विस्तार की दृष्टि से अत्यल्प है फिर भी महन्तों के सामान्य जीवन के अनेक दुर्गुणों का प्रत्यक्षीकरण उसके द्वारा स्पष्टता के साथ हुआ है। सत्यशील का दुःशील चरित्र मानों प्रेमानन्द सदृश सात्विक बौद्ध भिक्षु के चरित्र का प्रतिरूप है और इससे अपर का चरित्र-गौरव द्विगुणित होगया है।

सुश्रुवा (नाग)

नागराज सुश्रुवा शोषित और उत्पीड़ित है। उसके पूर्वजों की समस्त भूमि राजा द्वारा अपहृत कर बौद्ध विहारों को दान कर दी गई है। अतः वह अत्यन्त अकिञ्चन और निरीह दशा में है। उसे अपने पूर्वजों की भूमि पर चलने का भी स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। बौद्ध महन्त सत्यशील उसे खेत की पगडंडी पर चलने के कारण ही मारता है और बाँधने का उद्योग करता है। उसकी कन्या चन्द्रलेखा को महन्त के आदमी उसके सामने ही बाँधकर पकड़ लेजाते हैं।

सुश्रुवा नाग में, अकिञ्चन होने पर भी स्वाभिमान और पूर्व गौरव की भावना विद्यमान है। महन्त के द्वारा अत्यन्त कदर्थित किए जाने पर उसका स्वाभिमान गरज उठता है। वह भिक्षु से ललकार कहता है—"तुम जानते हो, मैं वही सुश्रुवा नाग हूँ, जिसके आतङ्क से यह रमणीक प्रदेश थर्राता था। अभी भी तुम्हारे जैसे कीड़ों को मसलने के लिए इन वृद्ध बाँहों में कम बल नहीं है।" सुश्रुवा के इस ओजस्वी व्यक्तित्व का विकास नाटक में आगे नहीं हुआ। रमणी के द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि वह कहीं बाहर चला जाता है तथा राजा उसकी सम्पत्ति लौटा देते हैं। सुश्रुवा को हम पुनः एक दुःखद दृश्य का साक्षात् करते हुए देखते हैं। उसके सामने ही राजा के अनुचर उसके जामाता विशाख और कन्या चन्द्रलेखा को महापिंगल की हत्या के अपराध में पकड़ ले जाते हैं। सुश्रुवा इस घटना पर खेद प्रकट कर ही रह जाता है "चन्द्रलेखा गई, विशाख भी गया, हा...।" राजा नरदेव के दरबार में सुश्रुवा नाग एक विनीत प्रार्थी

के रूप में ही दिखाई पड़ता है—"आपके सैनिकों ने मेरी कन्या चन्द्रलेखा और जामाता विशाख को अकारण पकड़ रखा है, उसे छोड़ दीजिए!" वस्तुतः सुश्रुवा का चरित्र विकास अत्यन्त अल्प और साधारण कोटि का है। उसकी ओजस्विता, स्वाभिमान पराक्रम आदि प्रदर्शन के जो स्थल नाटकीय वस्तु में हैं वहाँ भी उसके व्यक्तित्व को गौण ही रखा गया अतः उसका चरित्र महत्वशून्य प्रतीत होता है।

चन्द्रलेखा

चन्द्रलेखा अकिञ्चन, सुन्दरी तथा अत्यन्त सरल स्वभाव की युवती है। वह एक प्रतिष्ठित नागकुल की कन्या है अतः अभिजात्य गुण—आचरण की पवित्रता, आतिथ्य भावना, मर्य्यादा भाव आदि उसके चरित्र में हैं। 'विशाख' के स्त्री पात्रों में चन्द्रलेखा का चरित्र ही अधिक विस्तार से अङ्कित किया गया है। नाटक के नायक से उसका परिणय होता है तथा नाटक की अधिकांश प्रमुख घटनाएँ उसके जीवन-विकास से सम्बन्धित हैं। नाटक के नायक विशाख का सत्यशील, नरदेव आदि से संघर्ष, चन्द्रलेखा के विषय में ही होता है। अतः चन्द्रलेखा ही नाटक की नायिका है।

नाटक के प्रारम्भ में चन्द्रलेखा अपनी बहिन इरावती के साथ अत्यन्त मलिन वेश में उदरपूर्ति के लिए खेत से सेम की फलियाँ तोड़ती हुई दिखाई पड़ती है। उदर ज्वाला से पीड़ित होने के कारण ही लोकदृष्टि में तथा कथित निन्दनीय कर्म में प्रवृत्त होने पर भी उसमें अभिजात्य का सङ्कोच और लज्जा है। विशाख के साधारण ढङ्ग से टोक देने पर ही वह भयभीत होकर आँचल से सब फलियाँ उभल देती है तथा अत्यन्त कातर भाव से कहती है—"क्षमा कीजिए, मैं अब कभी न इधर आऊँगी। दरिद्रता ने विवश किया है, इसीसे आज सेम की फलियाँ पेट भरने के लिए अपने बूढ़े बाप की रक्षा करने के लिए, तोड़ ली हैं। यदि आज्ञा हो तो इन्हें भी रख दूं।"

विशाख की सहज सौम्य मूर्ति चन्द्रलेखा के मानस में अङ्कित हो जाती है। वह विशाख की निर्भीकता और परदुःखकातरता से अत्यन्त प्रभावित होती है। सत्यशील के विहार की कोठरी में

बन्द वह विशाख के प्रेम में ही विभोर है। उस कुत्सित कोठरी में बन्द वह उसी स्वर्ग का आनन्द लेती है। फिर तो वहाँ से मुक्त होने पर विशाख द्वारा किञ्चित प्रणय-चर्चा करते ही वह उसके सामने अपना हृदय हार जाती है। विशाख के प्रति उसका प्रेम अखण्ड है। उसे बड़े से बड़े प्रलोभन, प्रवञ्चना आदि अपने सुदृढ़ प्रेम-भाव से विचलित नहीं करते। महापिंगल और नरदेव द्वारा प्रदर्शित राजरानी बनने को सञ्जबाग को वह ठुकरा देती है। वह चैत्य में प्रवञ्चक भिक्षु की देववाणी के रूप में आई हुई आज्ञा की उपेक्षा कर देती है। वह अपने पति की मङ्गलकामना के लिए अर्धरात्रि में चैत्य में अकेले ही दीपक रखने जाती है। वह अपने पति का साथ घोर सङ्कट-काल में भी नहीं छोड़ती। जब महापिंगल की हत्या करने के अपराध में राजा के अनुचर विशाख को पकड़ कर ले जाने लगते हैं तो चन्द्रलेखा स्वेच्छा से ही बन्दिनी हो उसके साथ जाती है। उसे अपने पति विशाख पर इतना अनन्य अनुराग है कि वह उसे अपने से बिलकुल पृथक नहीं करना चाहती। विशाख को प्राप्त कर लेने के बाद विश्व में उसकी अन्य कोई कामना नहीं है। उद्योग के लिए बाहर जाने को उत्सुक विशाख से वह कहती है—'मुझे तो जीवनधन! तुम्हें पा जाने पर और किसी की आवश्यकता नहीं।' xxxx "मैं क्या जानूँ कि संसार क्या चाहता है। मैं तो केवल तुम्हें चाहती हूँ। मेरे संकीर्ण हृदय में तो इतना स्थान नहीं कि संसार की बातें आ जायें।" चन्द्रलेखा के इस द्वितीय कथन से विशाख के प्रति उसके प्रेम की अनन्यता स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होती है।

चन्द्रलेखा के स्वभाव में सरलता एवं मनुष्यमात्र के प्रति सम्मानपूर्ण सहानुभूति है। महापिंगल और राजा नरदेव को अपने घर में आया देखकर वह अपनी स्वाभाविक सरल प्रकृति के अनुरूप उनके प्रति सम्मान प्रकट करती है और उनका समुचित

आतिथ्य करती है। पर इसके साथ ही उसमें सतीत्व और आत्म-सम्मान की रक्षा की दृढ़ता भी पर्य्याप्त है। महापिंगल और राजा की बातों से उन्हें प्रवञ्चक और अपने सतीत्व का लुटेरा समझ कर वह कठोर शब्दों में उनकी भर्त्सना करती है तथा राजा से डाँट कर कहती है—"राजन् मुझसे अनादृत न हूजिए, बस, यहाँ से चले जाइये।" इसके पहिले भी कानीर विहार में सत्य-शील के प्रलोभनों को ठुकराकर चन्द्रलेखा अपने चरित्र की पवित्रता एव उज्ज्वलता का परिचय देती है।

चन्द्रलेखा के स्वभाव में नारी हृदय की एक दुर्बलता है। वह आकस्मिक घटनाओं से घबड़ाकर भयभीत हो जाती है। चैत्य में दीप के बुझते ही वह त्रस्त हो जाती है तथा आड़ में बैठे हुए भिक्षु की आवाज एवं गर्जना सुनकर वह घबड़ाकर गिर जाती है। वीर नारियों की सी साहसशीला प्रकृति का उसमें अभाव है। चन्द्रलेखा का चरित्र समीष्ट रूप से यद्यपि अधिक प्रभावोत्पादक नहीं है किन्तु उसके स्वभाव की सरलता, हृदय की कोमलता तथा उसके प्रेम की अनन्यता जिस स्वाभाविक रूप में प्रदर्शित की गई है उससे उसका व्यक्तित्व नाटक के अन्य स्त्री-पात्रों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण एवं आकर्षक होगया है।

इरावती

इरावती, चन्द्रलेखा की बहिन है। उसका चरित्र-विकास अत्यल्प है। वह अपनी बहिन के दुःख और सुख में दुःखी और सुखी है। उसे हम चन्द्रलेखा के साथ ही रोम की कलियाँ तोड़ते देखते हैं। वह विशाख को अपना और चन्द्रलेखा का परिचय देती है। चन्द्रलेखा और विशाख का प्रणय सम्बन्ध स्थापित होने पर इरावती विनोदपूर्ण आनन्द प्रकट करती है। तथा जब विशाख और चन्द्रलेखा, नरदेव के यहाँ बन्दी होकर चले जाते हैं तो वह घोर विषाद और चिन्ता में डूबी हुई दिखाई पड़ती है—"चन्द्रलेखा को लेकर इतना बड़ा उपद्रव हो जायगा कौन जानता था……… ।" नाटक में इरावती की स्थिति चन्द्रलेखा एवं तद्विषयक कुछ घटनाओं का परिचय कराने मात्र तक है। नाटककार ने उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं का निदर्शन कराते हुए उसके चरित्र का विकास नहीं किया। अतः वह नाटक की एक अत्यन्त साधारण स्त्री-पात्र है।

रानी

राजा नरदेव की स्त्री नाटक में केवल एक ही बार प्रकट होती है। किन्तु एक ही बार के साक्षात्कार में उसके स्वभाव की स्पष्टता, निर्भीकता एवं पतिपरायणता का सुन्दर आभास मिल जाता है। एक ओर तो वह अपने पति के विलासी और अनीति-पूर्ण जीवन की विनम्रतापूर्ण आलोचना करती है—"राज्य की व्यवस्था देखिए कैसी शोचनीय है। आपकी मानसिक अवस्था तो और भी।" तथा दूसरी ओर वह पूर्ण तेजस्विता के साथ महा-पिंगल सदृश कुटिल चाटुकारों की लम्बी खबर लेती है। उसके (रानी के) समक्ष ही जब भिक्षु द्वारा महापिंगल की कुटिलता की कलई खुलती है तो वह तत्काल अनुचरों को पिंगल को बाँधने का आदेश देती है। कामान्ध राजा नरदेव अपनी रानी की बातों पर ध्यान नहीं देता और महापिंगल को बन्धन-मुक्त करा देता है। अतः एक सच्ची पतिपरायणा स्त्री की भाँति वह पति की कल्याण भावना से अत्यन्त मुखर होती हुई राजा को यह निर्देश करती है "ऐसे कुटिल सभासदों का साथ छोड़िए" तथा अन्तिम रूप से यह चेतावनी देती हुई कि—'परिणाम बड़ा ही भयङ्कर होने वाला है।' वह चली जाती है।

तरला

तरला, नाटक के खलपात्र महापिंगल की स्त्री है। वह अपने बूढ़े एवं कामी पति पर पूर्ण शासन करती है। महापिंगल अपनी भयानक आकृति वाली कुरूपा स्त्री से बहुत डरता है। तरला भी महापिंगल के चरित्र और स्वभाव की दुर्बलता का लाभ उठाकर उसकी बहुत दुर्दशा करती है। वह उसकी कठोर व्यंग्य-पूर्ण शब्दों से भर्त्सना ही नहीं करती वरन उसके बाल नोचती है और धौल जमाती है। तरला में निम्न कोटि की स्त्रियों की सभी दुर्बलताएँ और दुर्गुण हैं। उसे क्षुद्र प्रकृति की स्त्रियों की भाँति गहनों से बड़ा मोह है। वह गहनों के लोभ में पड़कर पति के दुर्गुणों की भी उपेक्षा कर देती है। महापिंगल ज्योंही उसे चन्द्रहार लाने का लालच देता है कि वह उसके अवगुणों को भूलकर उसका मनुहार करने लगती है और उसके स्वर में स्वर मिलाकर गाती है—

'लगा दो गहने का बाजार।

कुछ चिन्ता है नहीं और क्या, मिले नहीं आहार।"

तरला सोने के लालच में इतनी अन्धी है कि भिक्षु निर्भयानन्द की मिथ्या प्रवञ्चना में पड़कर वह अपना सारा चाँदी का जेवर उसे सोना बनाने को देती है। लालच का फल सदैव बुरा होता है। सोने के लोभ में पड़कर तरला अपना सारा चाँदी का गहना खो बैठती है तथा पति से हाथ धोने के बाद ही वह अपनी सम्पत्ति भी गँवा बैठती है। स्वर्ण और आभूषणों की अत्यन्त लोभी स्त्रियों की यह दुरवस्था परम स्वाभाविक है। नाटककार ने मानों इसी तथ्य का दिग्दर्शन कराने के लिए नाटक में तरला के चरित्र की अवतारणा की अन्यथा नाटकीय कथावस्तु एवं व्यापारों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

विलास

'कामना' नाटक के पुरुष-पात्रों में विलास का चरित्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। फूलों के द्वीप में उसके पदार्पण करते ही उसका प्रभाव क्रमशः प्रसारित होने लगता है। द्वीप की प्रधान स्त्री कामना ही सर्वप्रथम उससे प्रभावित होती है। तत्पश्चात् द्वीप के प्रायः सभी नर नारी उसके उपदेशों और आदेशों को मन्त्रवत् ग्रहण करते हैं। वह अपने बुद्धि कौशल द्वारा द्वीप में सुरा और स्वर्ण पर आश्रित नवीन सभ्यता का चतुर्दिक प्रचार कर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त करता है।

विलास 'अपने शापग्रस्त और संघर्षपूर्ण देश की ज्वाला से दग्ध होकर' निकलता है। वह फूलों के द्वीप में आकर वहाँ के निवासियों की सरलता, निश्छलता आदि को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाता है। विलास महत्वाकांक्षी है। अतः वह कठोर संकल्प करता है—"ऐसी सीधी जाति पर शासन न किया, तो पुरुषार्थ ही क्या? इनमें प्रभाव फैलाकर अपने नये व्यक्तिगत महत्ता के प्रलोभन वाले विचारों का प्रचार करना होगा।" इस संकल्प के उदय होते ही उसे अपनी छाया में यह संकेत भी प्राप्त हो जाता है—"*बिना स्वर्ण और मदिरा का प्रचार किये तू इस* पवित्र और भोली भाली जाति को पतित नहीं बना सकता।"

संकल्प और साधनों के सुनिश्चित होजाने पर विलास अपने कूट कौशल द्वारा बड़ी तत्परता से लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। विवेक के कथनानुसार "उसकी तीक्ष्ण आँखों में कौशल की लहर उठती है। मुस्कराहट में शीतल ज्वाला और बातों में भ्रम की बहिया है।" कामना तो उसके प्रथम साक्षात्कार

के बाद ही उसके रूप-वैभव के कारण उस पर मुग्ध हो जाती है। वह अपने सुरक्षित स्वर्ण के आलोक से द्वीप निवासियों की आँखों में चकाचौंध पैदा कर उन्हें भी अपनी ओर बरबस आकर्षित कर लेता है। विनोद, लीला तथा अधिकांश द्वीप निवासी उसकी दासता मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। वह एकाएक द्वीप का प्रभुत्व प्राप्त करना कठिन समझता है! कामना को द्वीप का नेतृत्व प्राप्त है; अतः वह यह निश्चय करता है—"जब तक कामना इस पद पर है, उसी बीच में अपना काम कर लेना है।" वस्तुतः कामना उसके कार्य्यसाधन की टट्टी है। वह उसकी उँगलियों पर नाचती है और इशारों पर चलती है। वह उसी को द्वीप की रानी बनाकर अपनी योजनाएँ प्रचारित करता है और अपना प्रभाव विस्तृत करता है।

विलास इतना कार्य-कुशल है कि वह अपनी मूल योजना को सहसा सामने नहीं लाता। प्रत्येक योजना को वह एक भूमिका द्वारा प्रस्तुत करता है। कामना को रानी बनाने के पूर्व वह द्वीप निवासियों के खेलों में कामना को रानी बनाता है और उसकी आज्ञा पालन का निर्देश करता है। इसी प्रकार द्वीप निवासियों में हिंसक वृत्ति का प्रचार करने के लिए वह वन पशुओं को भयभीत करने का निर्देश करता है। वह इसे विनोद और व्यायाम का सुगम साधन बताकर पशुओं की निर्मम हत्या कराता है और इस प्रकार हत्या, क्रूरता आदि का उनमें प्रचार करता है। वह अपनी योजनाओं के प्रस्ताव बड़े सरल और स्वाभाविक तर्कों और युक्तियों के साथ प्रस्तुत करता है जिसके कारण समस्त द्वीप वासी उसकी बातों को स्वीकार करलेते हैं। द्वीप में प्रथम बार राज्य सत्ता स्थापित कर राज्यादेश मान्य ठहराने में उसे कुछ विरोध और कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कामना ही जब उससे पूँछती है—"तुमने मुझे रानी क्यों

बनाया ?" तब वह उसे समझाता है—"रानी, तुमको इसीलिए रानी बनाया कि तुम नियमों का प्रवर्तन करो। इस नियमपूर्ण संसार में क्या अनियन्त्रित जीवन व्यतीत करना मूर्खता नहीं है ?" इसी प्रकार वह नाटक के द्वितीय अंक के पाँचवें दृश्य में अपनी विस्तृत तर्कयुक्त वक्तृता द्वारा समस्त द्वीप वासियों को राज्यपद की आवश्यकता का बोध कराता है। राज्यशक्ति की स्थापना करने के बाद वह स्वयं प्रधान मन्त्री बन कर अन्य राज्याङ्गों की स्थापना करता है। कारागार, संग्रहालय, न्यायालय, सेना आदि की स्थापना के द्वारा द्वीप पर उसका प्रभुत्व क्रमशः दृढ़ हो जाता है।

विलास अपने स्वार्थ साधन में इतना पटु है कि वह अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व का भी प्रभाव अपने ऊपर नहीं जमने देता। कामना विलास पर पूर्णतया अनुरक्त है। वह बड़ी उत्कंठा पूर्वक विलास के साथ अपने विवाह की आकांक्षा करती है। किन्तु विलास अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए यही निश्चय करता है—"मैं उसको अपना हृदय-समर्पण नहीं कर सकता।" अतः वह कामना के समक्ष उसके झूठे महत्व का पर्दा खींच कर कहता है—"मैं तुम्हें ही इस द्वीप की एकच्छत्र अधिकारिणी देखा चाहता हूं। × × × × तुम द्वीप भर में कुमारी ही बनी रहकर अपना प्रभाव विस्तृत करो यही तुम्हारे रानी बने रहने के लिए पर्याप्त कारण हो जायगा।"

विलास का हृदय क्रूर और कलुषपूर्ण है। वह शान्तिदेव की हत्या करने वालों का दण्ड-विधान करते हुए निर्देश करता है— "इसका दण्ड भी ऐसा होना चाहिए कि देखकर लोग काँप उठें, फिर कोई ऐसा दुस्साहस न करें।" वह द्वीप के पड़ोसी प्रदेश पर नृशंस आक्रमण कर वहाँ हत्या और रक्तपात का नग्न ताण्डव करता है तथा पराजित देश के सेनापति और उसकी स्त्री की क्रूरता-पूर्वक हत्या करवाता है।

विलास दृढ़ हृदयवान होकर भी लालसा के कटाक्षों से घायल हो उसके समक्ष प्रणय आकुलता व्यक्त करता है और अपनी पराजय स्वीकार करता है। वह लालसा से दिल खोलकर कहता है—"मेरी जीवन-यात्रा में इसी बात का सुख था कि मुझ पर किसी स्त्री ने विजय नहीं पाई; परन्तु वह झूठा गर्व था।" लालसा को अपनाने पर भी उसकी कामुकता प्रशमित नहीं होती। वह शत्रु-सेनापति की स्त्री पर अपनी पाप-दृष्टि डालता है और उसे बल-पूर्वक अपनाने की चेष्टा करता है। अपने प्रयत्नों में असफल होने पर विलास प्रतिहिंसा प्रेरित हो उस स्त्री की क्रूरता पूर्वक हत्या करवा देता है।

विलास अपनी महत्वाकांक्षा का महल अनीति और अनाचार की नींव पर खड़ा करना चाहता है। उसकी कुशाग्र बुद्धि के कारण सरल हृदय द्वीप निवासियों के बीच उसकी दुर्नीति लता कुछ समय के लिए खूब फैलती है। उसके साथी दम्भ, दुर्वृत्त, क्रूर आदि उसकी सघन छाया में खूब फलते फूलते हैं। किन्तु उसकी दुर्नीति से प्रतिफलित अपराधों की आँधी और कुचक्रों का वात्याचक्र उसके बालुकामय महत्वाकांक्षा के प्रासाद को भूमिसात कर देते हैं। नवीन सभ्यता के विकास से प्रादुर्भूत पारस्परिक ईर्षा, मात्सर्य, प्रमाद, वासना, अनाचार का नग्न नृत्य द्वीप निवासियों को असह्य हो जाता है। विवेक की प्रबल हुँकार उनकी मोहनिद्रा को भङ्ग कर देती है। विलास के हाथों की कठपुतली कामना ही उसके अधिकार से मुक्त होकर उसकी विडम्बनाओं का खुला तिरस्कार कर देती है। द्वीप में राजा बनने का विलास का स्वप्न भङ्ग हो जाता है। विवेक और संतोष की सङ्गठित शक्ति के विरुद्ध अपनी डगमगाती हुई सत्ता को डूबने से बचाने का उसका अन्तिम क्षीण प्रयत्न अत्यन्त निष्फल सिद्ध होता है। अन्त में द्वीप से पालायन करके भी वह अपनी प्राणरक्षा नहीं कर

पाता। उसने द्वीप में जिस स्वर्ण का प्रभूत प्रचार कर उसे अपना अनुगामी बनाया था, द्वीप निवासियों द्वारा उसकी नौका पर फेंका गया वही स्वर्ण समुद्र गर्भ में उसकी अनन्त समाधि का कारण बन जाता है।

विलास का चरित्र व्यापकता एवं प्रभाव की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नाटक में वर्णित फूलों के द्वीप की समस्त नवीन हलचलों का केन्द्र विलास है। यद्यपि वह द्वीप में अपनी सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने में असफल होता है फिर भी वह अपने अद्भुत वाक्-विभ्रम और तीक्ष्ण बुद्धि-कौशल से द्वीप के नैसर्गिक जीवन में नवीन सभ्यता के उपकरण और उपादान प्रचलित करने में बहुत दूर तक सफल होता है। रानी से लेकर सामान्य स्त्री पुरुष तक उसके आदेशों और मंत्रणाओं को नत-मस्तक हो स्वीकार करते हैं। जीवन में उसकी असफलता का मूल कारण सम्भवतः लालसा के समक्ष उसकी पराजय स्वीकृति है। लालसा को अपनाकर वह कामना की सहानुभूति सर्वथा खो बैठता है। लालसा की विलासिता के प्रवाह को रोकने में वह स्वयं भी असमर्थ होता है। शत्रु सेनापति से लालसा को प्रणय-भिक्षा माँगते देखकर भी वह उसके विरुद्ध कुछ नहीं कर पाता। अतएव लालसा जनित वासनाओं की वहिया में उसकी महत्वाकांक्षा के महल की नींव खोखली हो जाती है। विलास के चरित्र द्वारा, मानव जाति के नैसर्गिक जीवन में नवीन सभ्यता के प्रसार की विविध दिशाओं एवं तज्जन्य दुरावस्थाओं का चित्रण ही नाटककार का परम अभीष्ट है और इसमें उसे पूर्ण सफलता मिली है।

विवेक

फूलों के द्वीप में विवेक अपनी सूक्ष्म तत्त्वदर्शिनी बुद्धि के कारण विलास के प्रभाव में नहीं आता। वह निर्भीक गाम्भी और स्पष्ट वक्ता है। वह विलास द्वारा प्रचारित नवीन सभ्यता के मायाजाल की विभीषिका को भली भाँति समझता है और द्वीप निवासियों को निरन्तर उसका परिचय कराता रहता है। विलास के मुख से वह प्रथम बार अपराध और पापों की चर्चा सुनते ही कह बैठता है—"परिवर्तन ! वर्षा से धुले हुए आकाश की स्वच्छ चन्द्रिका, तमिस्रा से—कुहू से बदल जायगी। बालकों के से शुभ्र हृदय छल की मेघ माला में ढंक जाँयगे।" ज्यों ज्यों द्वीप में विलास कृत विडम्बना का प्रसार होता है त्यों त्यों विवेक का विरोध भी प्रबल होता जाता है। उसके हृदय में द्वीप के प्रति वास्तविक कल्याण भावना है, अतः वह अपने हृदय की बात दूसरों के समक्ष निर्भीकता-पूर्वक कहने में नहीं हिचकता। वह द्वीप निवासियों की आँखों का पर्दा हटाते हुए उन्हें वास्तविकता का परिचय कराता है—"व्यभिचार ने तुम्हें स्त्री सौन्दर्य का कलुषित चित्र दिखलाया है और मदिरा उस पर रङ्ग चढ़ाती है।"

विलास के स्वर्ण और सुरा की ओर विवेक हाथ नहीं बढ़ाता अतः द्वीप के अन्य निवासियों की अपेक्षा वह आडम्बर शून्य रूप में रहता है। द्वीप निवासी उसके नितान्त सादे वेष को देखकर उसकी उपेक्षा करते हैं। उसे अस्पृश्य, गन्दा, अछूत आदि कहकर उसका खुला तिरस्कार करते हैं। उसकी भर्त्सना-युक्त कठोर बातों के कारण उसे पागल की उपाधि प्रदान की जाती है और सभी जगहों से उसे बहिष्कृत किया जाता है। वह अपने

लिए पागल के सम्बोधन का स्वागत करता है—"मैं पागल हूँ! अच्छा है जो सज्ञान नहीं हूँ, इस वीभत्स कल्पना का आधार नहीं हूँ।

द्वीप में न्याय के नाम पर प्रचारित नृशंस हत्या के विरुद्ध विवेक की आत्मा तड़प उठती है। एक विद्रोही की भाँति पशुता का प्रतिकार करने के लिए वह मृत्यु की भी किञ्चित परवाह न कर कामना और विलास के समक्ष ही ललकार कर कहता है—"मेरी भी इस खुली छाती पर दो-तीन तीर! रक्त की धारा वक्षस्थल पर बहेगी, तो मैं भी समझूंगा कि तपा हुआ लाल सोने का हार मुझे उपहार में मिला है। रानी के सभ्य राज्य का जय-घोष करूँगा। लोहू के प्यासे भेड़ियो, तुम जब वर्बर थे, तब क्या इससे बुरे थे? तुम पहले इससे क्या विशेष असभ्य थे? आज शासन-सभा का आयोजन करके सभ्य कहलाने वाले पशुओ, कल का तुम्हारा धुँधला अतीत इससे उज्ज्वल था।" विवेक अपनी सत्यासत्य निरूपिणी वाणी का गम्भीर घोष द्वीप के प्रत्येक निवासी प्रत्येक स्त्री-पुरुष, कामना, विलास, विनोद आदि सभी के समक्ष करता है। वास्तव में वह सत्य-ज्ञान का मानों एक प्रकाश-पिण्ड है जो अपने आलोक से द्वीप-निवासियों को सत्पथ का निर्देश करता है और अपनी प्रखर उष्णता से उनके मृतप्राय विलास जर्जर शरीरों में नैसर्गिक शक्ति-सुधा का संचार करता है।

विवेक केवल वाक्शूर नहीं है। वह कठोर कर्मक्षेत्र में अवतरित होकर अपनी सेवा और सङ्गठन-शक्ति के द्वारा पीड़ितों को नवजीवन प्रदान करता है तथा उनमें वास्तविक चेतना को सचेष्ट कर द्वीप के उद्धार के लिए वह उन्हें सङ्गठित करता है। युद्ध में घायल व्यक्तियों की चिकित्सा करके वह उन्हें निरोग ही नहीं करता वरन् वह उन्हें सर्वथा अपने अनुकूल बना लेता है। पीड़ितों की रक्षा के लिए उसमें शारीरिक बल और दृढ़ता भी पर्य्याप्त है।

वह एक सैनिक से एक बालिका की रक्षा कर अपने शारीरिक बल का परिचय देता है। सैनिक द्वारा दी हुई मृत्यु की धमकी की लेशमात्र चिन्ता न करते हुए वह उसकी चुनौती को स्वीकार करता हुआ कहता है—"दूसरे की रक्षा में, पाप के विरोध और परोपकार करने में प्राणोंपण तक दे देने का साहस किस भाग्यवान् को होता है? नीच! आ देखूँ तो।" विवेक झपट कर सैनिक का खड्ग-युक्त हस्त पकड़ लेता और वह विवश होकर उसकी आधीनता स्वीकार करता है। इसी प्रकार वह दुराचारियों के हाथों से सन्तोप और करुणा के जीवन और मर्य्यादा की रक्षा करता है।

विलास की वासना-आँधी में विवेक की वाणी कुछ समय तक तो अवश्य अरण्यरुदन सिद्ध होती है पर धीरे धीरे द्वीप निवासी उसकी बातों का रहस्य समझने लगते हैं। कामना को तो उसकी बातें सुनकर सिर में पीड़ा होने लगती है। विलास भी उसकी बातों पर विचार करने को कहता है। विनोद तो विवेक की बातों से प्रभावित होकर मधुर मिलन के अभिनय का मङ्गल पाठ पढ़ने की घोपणा मुक्तकण्ठ से करता है। अन्ततोगत्वा कामना, विवेक से लिपट कर ही वास्तविक शान्ति प्राप्त करती है और इस प्रकार विवेक के उद्योग से ही द्वीप का पुनरुद्धार होता है।

संतोष

सन्तोष गम्भीर और शान्त प्रकृति का पुरुष है। वह अपने लिए प्रस्तुत स्वल्प साधनों से सन्तुष्ट रहने वाला है। अनन्त जलराशि का अतिक्रमण कर वह नवीन सुख साधनों की इच्छा नहीं रखता। उसे अपना अविवाहित जीवन भी दूभर नहीं प्रतीत होता और वह विनोद से स्पष्ट शब्दों में कहता है—"मैं सन्तुष्ट हूँ—मुझे ब्याह की आवश्यकता नहीं।"

सन्तोष के हृदय में कामना के प्रति वास्तविक अनुराग है। वह जब लीला द्वारा कामना और विलास के विवाह की चर्चा सुनता है तो उस पर सहज ही विश्वास नहीं करता और उसका विरोध करने का भी वह विचार करता है। नाटक के तृतीय अङ्क के द्वितीय दृश्य में वह स्वयं अपना प्रणय-भाव कामना के प्रति स्पष्ट करता है; कामना के प्रति अनुराग रखते हुए भी वह उसकी चञ्चल भावभङ्गियों के कारण उसके प्रति उदासीनता ही पहिले प्रकट करता है—"मैं तो उससे अलग रहा चाहता हूँ।" किन्तु कामना के प्रति उदासीन होने पर भी वह लीला के प्रणय प्रस्ताव को सहसा स्वीकार नहीं करता। लीला यद्यपि बड़े उल्लासपूर्ण शब्दों में उससे कहती है—"हाँ प्रियतम इस पूर्णिमा को हमलोग एक हो जाँयगे।" पर सन्तोष उससे यही कहकर टाल देता है—"तो मैं विचार करूँगा। तुम्हारे पथ पर मैं चल सकूँगा।" सन्तोष के इस कथन से उसके स्वभाव की गम्भीरता तथा व्यक्तियों के परखने की शक्ति भी व्यंजित होती है। कामना अपनी उद्दाम वासनाओं की मृगतृष्णा में जब चारों ओर से सन्तप्त होकर मनःपूत हो जाती है और नैसर्गिक जीवन में वास्तविक सुख और शान्ति अनुभव करने

लगती है तब उसकी सारी चञ्चलता दूर हो जाती है। संतोष, कामना को सर्वथा प्रकृतिस्थ देखकर उसे सहर्ष स्वीकार करता है।

संतोष के चरित्र में नाटककार ने आरम्भ में उसकी स्वभाव-गत कुछ विशिष्टताओं का ही निर्देश किया है। वह द्वीप की हलचलों में कोई विशेष भाग लेता नहीं दिखाई पड़ता। केवल एक स्थान पर वह विलास की प्रत्यक्ष आलोचना करता एवं द्वीप के पतन पर खेद प्रकट करता हुआ दिखाई पड़ता है। किन्तु आगे चलकर लोक सेवा के कार्यों में उसे हम संलग्न देखते हैं। मृतक शान्तिदेव की आश्रय-विहीन बहिन करुणा की सहायता में वह पूर्ण उत्साह से तत्पर होता है। वह करुणा को मृदुल शब्दों में सान्त्वना देते हुए कहता है—"जिसका कोई नहीं है, मैं उसी का होकर देखूँगा कि इसमें क्या सुख है।" वह करुणा के साथ उसके खेतों में परिश्रम-पूर्वक कार्य करता है तथा उसके लिए अनेक कष्ट सहता हुआ वह दुर्वृत्त व्यक्तियों से उसके चरित्र और सम्मान की रक्षा करता है। वैभव और प्रभुत्व की रक्षा के लिए विलास के अन्तिम प्रयासों को वह अपने सैन्यबल से विफल करता है।

'कामना' नाटक का नायक संतोष ही माना जायगा। उसमें धीरोदात्त नायक के अधिकांश गुण हैं और नाटक के अन्त होने पर नायिका कामना की उपलब्धि उसी को होती है। उसके प्रयत्नों से ही प्रतिनायक विलास का अन्त होता है। यद्यपि विलास की अपेक्षा उसका चरित्र विकास स्वल्प है। विलास के अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व के समक्ष उसका व्यक्तित्व चेष्टा विहीन एवं प्रभावशून्य प्रतीत होता है फिर भी नाटक के प्रारम्भ और अन्त में उसकी जो स्थिति है, नाटक की परिणति में उसका जो महत्व-पूर्ण भाग है तथा नायिका कामना से उसका जो घनिष्ठ सम्बन्ध है उसके कारण हमें उसे ही नाटक का नायक मानने को विवश होना पड़ता है।

विनोद

विनोद सरल और सच्ची प्रकृति का पुरुष है। फिर भी वह नवीनता और परिवर्तन का प्रेमी है। उसे अपनी गृहस्थी व्याह के बिना सूनी प्रतीत होती है अतः वह लीला की सरलता पर प्रसन्न ही नहीं वरन् मुग्ध होकर, उससे व्याह करना चाहता है। किन्तु जब लीला, सन्तोष की ओर ढुलकने लगती है तो वह सन्तोष की मित्रता के नाते उससे मिलना भी बन्द कर देता है। फिर भी कामना के प्रयासों से उसका विवाह लीला से हो ही जाता है। लीला से विवाह होने के बाद विनोद के जीवन का नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। वह लीला के प्रेम-बन्धन में पड़कर उसके कहने से कामना द्वारा दी हुई पेशा को स्वीकार करता है और वह स्वर्ण के लोभ से विलास की दासता भी स्वीकार कर लेता है। वह विलास के सुरा-स्वर्ण-चक्र में पड़कर भी मानों अपने आत्मस्वरूप को पहिचानता हुआ लीला से एकबार कहता है—"परन्तु लीला, हम लोग कहाँ चले जारहे हैं, कुछ समझ रही हो? समझ में आने की ये बातें हैं?" किंतु लीला सुरा के साथ ही उसे अपने सौन्दर्य की घूँटी पिलाकर उसे सर्वथा आत्मविभोर कर देती है और वह आँख बन्द कर द्वीप में नवीन सभ्यता के रूप में हत्या, व्यभिचार, विलासिता आदि के प्रचार और प्रसार में सहायक होता है। वह इतना बड़ा मद्यप हो जाता है कि मदिरा के अतिपान के कारण ही वह अन्य देश पर आक्रमण करने के लिए सैन्य संचालन में भी सर्वथा असमर्थ हो जाता है। सुरा का प्रभाव उसके मस्तिष्क तक ही नहीं रहता वरन् उसका हृदय भी उससे आक्रांत होजाता है। वह विलासी

और निष्ठुर हत्यारा बन जाता है। वह लीला के समक्ष ही, मानों उसके प्रति अपने पवित्र प्रेम पर अर्गला लगाता हुआ कामना को अपनी अङ्कगामिनी बनाता है। लीला उसकी निष्ठुरता की चर्चा करती हुई स्वयं कहती है—"वह तो एक निष्ठुर हत्यारा हो गया है। उसे मृगया से अवकाश नहीं।"

विनोद दृढ़प्रतिज्ञ एवं पराक्रमी है। वह एक बार जिसे जो वचन दे देता है उस पर वह सदैव आरूढ़ रहता है। वह कामना को रानी मानकर उसकी प्रत्येक आज्ञा का अक्षरशः पालन करता है। विलास उसके स्वभाव की इसी विशेषता को परख कर उसे द्वीप का सेनापति नियुक्त करता है। उसके नायकत्व में द्वीप में सफल सैन्य-संग्रह होता है तथा न्याय और विग्रह आदि सभी सफलता पूर्वक सम्पादित होते हैं। वह बड़े उत्साह पूर्ण शब्दों में द्वीप निवासियों को स्वर्ण संग्रह के लिए उत्साहित करता है—"यदि वीर हो, तो चलो—वीरभोग्या तो वसुन्धरा होती ही है। उस पर जो पदाघात करता है, उसे वह हृदय खोल कर सोना देती है।" इससे उसका रणोत्साह और पराक्रम भी प्रकट होता है।

विनोद वस्तुतः स्वयं दुःशील नहीं है। वह विलास द्वारा प्रचारित सुरा एवं स्वर्ण के प्रभाव से हृदय की सात्विकता को खोकर कुछ समय के लिए क्रूर, लोभी एवं विषयासक्त तो अवश्य हो जाता है किन्तु ज्योंही कामना, विलास की सभ्यता का पर्दा फ़ाश करती है कि विनोद की भी आखें खुल जाती हैं और वह भी विवेक के कण्ठ में कण्ठ मिलाकर पुकार उठता है—"आओ, हम सब उस मधुर मिलन के योग्य हों। उस अभिनय का मङ्गलपाठ पढ़ें।" विनोद के चरित्र में यह परिवर्तन यद्यपि आकस्मिक है किन्तु द्वीप निवासियों की आशुपरिवर्तशीला सरल प्रकृति के सर्वथा अनुरूप है।

विनोद का चरित्र सर्वथा व्यक्तित्व शून्य नहीं है। सुदृढ़ मैत्री भावना, विश्वासपात्रता एवं पराक्रम आदि उसके स्वभाव की कुछ निजी विशेषतायें हैं जिनके कारण वह द्वीप में एक महत्वपूर्ण पद ग्रहण करता है। उसके चरित्र में दुर्गुणों का प्रादुर्भाव बाह्य प्रभाव जनित है। उसके दूर होते ही उसके चरित्र की निर्मलता प्रकट हो जाती है।

कामना

फूलों के द्वीप में कामना सर्वप्रिय युवती है। कामना सी लड़की द्वीप भर में नहीं है। द्वीपवासियों के उपासना-गृह का नेतृत्व उसी के हाथ में है। सभी स्त्री, पुरुष और बालक उसका सम्मान करते हैं। बालकों तक को खेल-कूद में कामना का अभाव खटकता है। कामना, भावुक और सरल है किन्तु वह अपने हृदय की चंचलता से आन्तरिक शान्ति और शीतलता खो बैठती है। वह अपने साथ ही द्वीप निवासियों को भी नैतिक पतन के गर्त में बहुत दूर तक घसीट ले जाती है। कामना के स्खलन के साथ ही उसके द्वीप निवासियों का पतन होता है तथा उसके सँभलने के साथ ही द्वीप का पुनरुत्थान होता है।

कामना के हृदय की चंचलता का आभास नाटक में उसके प्रवेश करते ही प्राप्त होता है। वह द्वीप की निश्चेष्ट शान्ति से आकुल सी रहती है। उसका प्रेमी सन्तोष यद्यपि उसके हृदय के समीप है फिर भी वह उसे केवल 'आलस के विश्राम का स्वप्न दिखाता है,' और इसीलिए वह इस निष्कर्ष पर पहुंचती है—"अकर्मण्य सन्तोष से मेरी पटेगी? नहीं।" वह लीला के सामने खेदयुक्त हो स्वीकार करती है—"मेरा हृदय रिक्त है। मैं अपूर्ण हूँ।

कामना भावुक रमणी है। उसके हृदय में उद्दाम प्रेम की भावना अधिष्ठित है। पहिले वह सन्तोष के साथ अपने हृदय की समीपता का अनुभव करती है। किन्तु कामना की अस्थिर भावभङ्गियों से जब सन्तोष को उसके प्रणय-भाव की अनिश्चितता अनुभूत होती है तो वह उससे अलग रहने की अपनी इच्छा विनोद के सामने व्यक्त करता है। कामना अपने प्रति सन्तोष की इस

हिचक का अनुभव कर कृतसंकल्प होती है—"सन्तोष मुझसे डरता है, तो मैं भी उससे सबको डराऊँगी।"

विलास के रूप में कामना को आत्मतुष्टि का उपयुक्त साधन एवं आधार प्राप्त होजाता है। द्वीप में विलास के प्रवेश करते ही, कामना उसके वैभवपूर्ण आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित होजाती है और अपनी स्वाभाविक सरलता के अनुरूप वह सर्वतोभावेन उसके सामने आत्म-समर्पण कर देती है।

विलास के साथ प्रणय सम्बन्ध स्थापित कर कामना अपने हृदय की भूख मिटाने के लिये आकुल हो उठती है। वह अपनी एक स्वगतोक्ति में कहती है—"मेरे भीतर का बाँकपन सीधा होगया है। मेरा गर्व उसके पैरों पर लोटने लगा है। .. .. विलास! तुम्हारे दर्शन में सुख भोगने के नये नये आविष्कारों से मस्तिष्क भर दिया गया है। क्रांति और श्रान्ति मिलने के लिए जैसे सकल इन्द्रियाँ परिश्रम करने लगी हैं—विलास!" वह विलास के समक्ष मुक्तकण्ठ से स्वीकार करती है—'मैं अपनी नहीं रह गई हूँ प्रिय विलास! क्या कहूँ।" कामना के प्रति विलास का मनोभाव स्वार्थयुक्त है। वह उसे अपने कार्य्य-साधन का अस्त्र ही बनाकर रखना चाहता है। वह कामना को एक सुन्दर रानी होने के योग्य प्रभावशालिनी स्त्री' के रूप में ही देखता है। अतः वह यही निश्चय करता है—"मैं उसको अपना हृदय समर्पण नहीं कर सकता।" वह अत्यन्त कौशल से कामना को समझाता है—"तुम द्वीप भर में कुमारी बनी रह कर अपना प्रभाव विस्तृत करो। यही तुम्हारे रानी बने रहने के लिए पर्य्याप्त कारण हो जायगा।"

विलास को प्राप्त करने की कामना की आशाएँ उस समय सर्वथा लुप्त हो जाती हैं जब वह लालसा के साथ विवाह बन्धन में बँध जाता है। कामना उस दृश्य को यूथ से अलग खड़ी हो बड़े खेद और आश्चर्य के साथ देखती रह जाती है। विलास की

प्रतारणाओं से कामना का हृदय जर्जर होजाता है। ब्याह का नाम सुनते ही मानों वह तिलमिला कर अपनी सखी से कहती है—"चुप मूर्ख! मैं पवित्र कुमारी हूँ। मैं सोने से लदी हुई, परिचारिकाओं से घिरी हुई, अपने अभिमान-साधना की कठिन तपस्या करूँगी। अपने हाथों से जो विडम्बना मोल ली है, उसका प्रतिफल कौन भोगेगा? उसका आनन्द, उसका ऐश्वर्य और उसकी प्रशंसा, क्या इतना जीवन के लिये पर्य्याप्त नहीं है।" कामना के इस कथन की व्यंग्योक्तियों द्वारा उसके हृदय का क्षोभ एवं आत्म-ग्लानि स्पष्टतया व्यंजित होते हैं। विलास को हृदय देकर उसे जो आत्म-विडम्बना भोगनी पड़ती है उसी की अभिव्यक्ति इस कथन में है। सन्तोष के समक्ष कामना अपने दुःखों के ज्वालामुखी पर संयम का आवरण बड़ी कठिनता से डालती हुई केवल इतना ही कह पाती है—"मेरे दुखों को पूछ कर और दुःखी न बनाओ।" फिर भी इससे उसकी ऐकान्तिक वेदना का स्पष्ट बोध होता है।

विलास की प्राप्ति अभिलाषाओं में कामना अपने पूर्व प्रणयी सन्तोष को सर्वथा विस्मृत नहीं कर देती। लीला जब सन्तोष को अपना पति निर्धारित कर उसके साथ विवाह करना चाहती है तो कामना उससे स्पष्ट ही कह देती है—"वह मेरा निर्वाचित है! मैं चाहे ब्याह करूँ या नहीं, परन्तु वह तो सुरक्षित रहेगा...।" विलास से सर्वथा निराश हो एवं उसकी वास्तविकता का अनुभव कर उसका त्याग कर देने पर कामना को अपना पूर्व प्रेमी सन्तोष प्राप्त हो जाता है जिससे वह यथार्थ रूप से सुखी होती है।

विलास के सम्पर्क में आते ही कामना का व्यक्तित्व हलका होने लगता है। वह, उसकी कुटिल मन्त्रणाओं को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करती जाती है। स्वर्ण और मदिरा को वह बड़े उल्लास के साथ स्वीकार करती है और लीला, विनोद तथा अन्य द्वीपनिवासियों

में खुलकर उनका प्रचार करती है। वह विलास के स्वर्ण और मदिरा में आत्मविभोर हो द्वीप की परम्पराओं का भी अतिक्रमण करने लगती है। पवित्र पक्षियों के संदेश के स्थान पर वह द्वीपवासियों को नवीन पुरुष द्वारा पिता का सन्देश सुनने के लिये प्रेरित करती है। अपराध दण्ड आदि धारणाओं के प्रचार में वह प्रत्यक्ष रूप से सहायक होती है। विलास की कुटिल योजनाओं को आँख बन्द कर स्वीकार करती हुई वह द्वीप की रानी बन जाती है और मन्त्री, सेनापति, न्यायालय, कारागर आदि की स्थापना में सहायक हो वह राज्यचक्र का पूरा स्वांग खड़ा कर देती है। वह स्वर्ण प्राप्ति के लिये अन्य देश पर आक्रमण कराती है। द्वीप के नैसर्गिक जीवन में इस नवीन सभ्यता के प्रवेश के कारण हत्या, व्यभिचार, द्वेष, स्वार्थ आदि का जब विपाक्त प्रभाव उग्र रूप से प्रकट होने लगता है तभी उसकी आँखे खुलती हैं। वह अपने देशवासियों के समक्ष परम उत्तेजित होकर कहती है—"यदि राजकीय शासन का अर्थ हत्या और अत्याचार है, तो मैं व्यर्थ रानी बनना नहीं चाहती। मेरी प्रजा इस बर्बरता से जितना शीघ्र छुट्टी पावे, उतना ही अच्छा। (मुकुट उतारती हुई) यह लो, इस पाप-चिन्ह का बोझ अब मैं नहीं वहन कर सकती। यथेष्ट हुआ। प्यारे देशवासियो, लौट चलो, इस इन्द्रजाल की भयानकता से भागो। मदिरा से सिंचे हुए चमकीले स्वर्णवृक्ष की छाया से भागो।"

कामना विलास के सम्पर्क में आने पर अपना पूर्व गौरव भी बहुत कुछ खो देती है। वह अपने व्यवहारों से बहुतों की आलोचना एवं निन्दा का विषय बन जाती है। द्वीप की एक स्त्री उसकी आलोचना करती हुई कहती है—"केवल एक चमकीली वस्तु उसके सिर पर थी।......उसे सिर में बाँध कर कामना बड़ी इठलाती हुई सबसे बातें कर रही है।" विवेक खुले शब्दों में कामना की निन्दा

करता है—"मदिरा से ढुलकती हुई, वैभव के बोझ से दबी हुई, महत्वाकांक्षा की तृष्णा से प्यासी, अभिमान की मिट्टी की मूर्ति।"

यद्यपि यह यथार्थ है कि कामना ने विलास के सहवास में रह कर अपने पूर्व रूप को बहुत कुछ नष्ट कर दिया फिर भी उसके अन्तः-करण में स्वाभिमान एवं विवेक समय समय पर सजग हो जाते हैं। विनोद और लीला स्वर्ण से पराभूत हो जब विलास की दासता स्वीकार करते हैं तब मानों कामना तिलमिला कर कहती है—"नहीं, नहीं तुम इतने दीन होकर इस ज्वाला की भीख मत लो।" इसी प्रकार निरीह पशुओं की अकारण हत्या से आकुल होकर वह कहती है—"परन्तु विलास, देखो यह हरी-हरी घास रक्त से लाल रँगी जाकर भयानक हो उठी है, यहाँ का पवन भारा-क्रांत होकर दबे पाँव चलने लगा।" हत्या, व्यभिचार आदि दुर्वृत्तियों के अतिचार से कामना का विवेक अधिक पुष्ट होकर सजग होता है और वह विलास के कृत्रिम उपकरणों एवं आडम्बर-पूर्ण योजनाओं को एक साथ तिलांजलि दे देती है। कामना के उत्थान और पतन के साथ द्वीप का भी उत्थान पतन होता है। सन्तोष के कथनानुसार वह द्वीप में यथार्थ ही बड़ी 'प्रभावशालिनी' स्त्री है।

———

लीला

लीला स्वभाव से चंचल एवं नवीन वस्तुओं तथा व्यक्तियों से शीघ्र प्रभावित होने वाली युवती है। वह कामना की अत्यन्त विश्वासपात्र सहचरी है। स्वर्ण को देखकर उसकी चमक से वह अत्यन्त प्रभावित होती है और उसकी प्राप्ति के लिये उसके हृदय में तीव्र उत्कण्ठा सजग होती है। वह कामना के कहने से मदिरा भी पान करती है तथा उसके स्वाद और मादकता के कारण उसके प्रति उसकी सतृष्ण लालसा सदैव जागरूक रहती है। लीला का व्यक्तित्व विशेष प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण तो नहीं है किन्तु नारी समाज में कामना के पश्चात् द्वीप में उसका ही प्रभाव विशेष लक्षित होता है। कामना के बाद स्वर्ण और मदिरा को सर्वप्रथम अपनाने में उसी का स्थान है। विलास के निर्देश अङ्गीकार करने में कामना के पश्चात् वही अग्रणी है। वह मानों आँख बन्द कर विलास और कामना का अनुगमन करती है। लीला ही सर्वप्रथम कामना को रानी के रूप में स्वीकार करती है और समस्त द्वीप निवासी उसका अनुकरण करते हैं।

लीला पहिले तो विनोद को ही बहुत चाहती है पर कुछ समय के लिए उसका ध्यान उससे हट जाता है और सन्तोष को वह अपना पति बनाने के लिए उतावली प्रतीत होती है। वह बड़ी ललक से सन्तोष से कहती है—"हाँ प्रियतम! इस पूर्णिमा को हम लोग एक हो जाँयगे।" किन्तु कामना उसके स्वप्न को शीघ्र ही भङ्ग कर देती है। कामना से यह अवगत कर कि संतोष उसका निर्वाचित है वह विनोद से ही विवाह करने को बाध्य होती है। विवाह हो जाने पर विनोद के साथ लीला का दाम्पत्य जीवन अबाध रूप से व्यतीत होता है।

लीला स्वर्ण और सुरा के प्रभाव से इतना मदान्ध हो जाती है कि वह वन-लक्ष्मी के उपदेशपूर्ण आदेशों की सर्वथा उपेक्षा कर देती है। वन-लक्ष्मी उसे यह स्पष्ट संकेत देती है—"अभिशाप तो तुम स्वयं इस द्वीप को दे रही हो।" परन्तु लीला उस पर ही ईर्ष्या और जलन का अभियोग लगा कर उसकी भर्त्सना करने को उद्यत होती है। अन्त में वन लक्ष्मी उसे स्पष्ट रूप में समझाती हुई कहती है—"मेरी प्यारी-लीला! मान जा। कहे जाती हूँ, जिस दिन तूने उस चमकीली वस्तु के लिये हाथ पसारा, उसी दिन इस देश की दुर्दशा का प्रारम्भ होगा।" वनलक्ष्मी के इस कथन से द्वीप के पतन में लीला का भी दायित्व प्रकट होता है। *लीला स्वर्ण एवं सुरा द्वारा सुख प्राप्ति में इतनी तल्लीन है कि* वह विनोद की इस जिज्ञासा की भी अवहेलना कर देती है—"लीला, हम लोग कहाँ चले जारहे हैं, कुछ समझ रही हो?" किन्तु आगे चल कर जब वह लालसा को अपनी विषयवासना में विनोद को आवेष्टित करता हुआ देखती है और इस प्रकार जब उसके ही स्वार्थों में ठोकर लगती है तभी उसकी आखें खुलती है। वास्तविकता का यथार्थ अनुभव होने पर वह कामना के कण्ठ में कण्ठ मिलाकर कहती है—"जितने भूले भटके होंगे, वे इन्हीं पागलों के पीछे चलेंगे। हम अपने फूलों के द्वीप से काँटों को चुनकर निकाल बाहर करेंगे।" इस प्रकार लीला आत्मसुधार की ओर अग्रसर हो अपने द्वीपनिवासियों के सुसंस्कारों के पुनरुत्थान का पथ प्रशस्त करती है।

लालसा

शान्तिदेव की स्त्री लालसा अपने पति की दस्युओं द्वारा हत्या होने के पश्चात प्रभूत स्वर्णराशि की स्वामिनी होजाती है। सम्पत्ति प्राप्ति के साथ उसके हृदय में अधिकार एवं महत्व प्राप्त करने की आकांक्षा तीव्र रूप से जागृत होती है। वह अपनी कार्य सिद्धि के लिए विलास को ही अपना उपयुक्त साधन निर्धारित करती है—"मैं भी रानी हो सकती हूँ, यदि विलास को—हाँ, क्यों नहीं।" वह अपने वाक् विभ्रम, सङ्गीत और स्वर्ण की चमक से विलास को अपनाने में पूर्ण सफल होती है। अपराजित विलास, लालसा के समक्ष मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता है—"मुझ पर किसी स्त्री ने विजय नहीं पाई; परन्तु वह झूठा गर्व था। आज—"

विलास को अपने वश में करके लालसा द्वीप का संचालन सूत्र मानों कुछ समय के लिये अपने हाथों में ले लेती है। पड़ोसी प्रदेश में प्रभूत स्वर्णराशि का प्रलोभन दिखाकर वह विनोद और विलास के नायकत्व में उस पर सैनिक आक्रमण कराती है। उसकी प्रेरणा से शान्तिदेव के हत्यारों का न्याय-विधान होता है और अत्यन्त निर्ममतापूर्वक उनकी हत्या की जाती है। फूलों के द्वीप में आधुनिक सभ्यता के प्रतीक धर्मसंघ, न्यायालय एवं विषयवासना के विविध उपादानों की स्थापना में लालसा का बहुत बड़ा हाथ है।

लालसा अपने कार्य-साधन में अत्यन्त पटु है। वह बड़े कौशल से विलास को सर्वथा अपनी मुट्ठी में करती है। उसकी विषय-वासना अत्यन्त तीव्र है। विलास को युद्ध-भूमि में भेजकर

वह विनोद के साथ विषय-सुख प्राप्त करने के लिये तत्पर होती है। इतना ही नहीं, वरन् वह शत्रु-देश के सेनापति को देखकर उससे भयभीत होने के बजाय उसपर अनुरक्त हो जाती है। शत्रु-सेनापति उसकी प्रणय-भिक्षा को ठुकरा देता है। लालसा कुटिल कौशल द्वारा उसे उसकी अपहृत पत्नी वापस दिलाने का वचन देकर उसपर बलात्कार का झूठा अभियोग लगाती है और वह उसकी निर्दयता पूर्वक हत्या करा देती है। वैभव और वासना के पङ्क में फँसी हुई निर्लज्ज नारी के सभी दोष और दुर्गुण लालसा में मानों कूट-कूट कर भरे हैं।

फूलों के द्वीप में विलास के गौरव-विहीन होने के साथ ही लालसा का भी प्रभुत्व मिट जाता है और वह विलास के साथ ही 'अनन्त समुद्र में, काल के काले परदे में,' स्थान पाने के लिये द्वीप से निकल पड़ती है।

कुटिलता, क्रूरता और विलासिता में लालसा अप्रतिम है। विलास ऐसे छद्मवेशी एवं कुटिल व्यक्ति को अपने वाक्-भ्रम तथा कटाक्षपात से शक्तिहीन कर उसे अपना सर्वथा अनुगत बना लेना उसके व्यक्तित्व की प्रभविष्णुता को सूचित करता है। महत्त्वाकांक्षाओं की दौड़ में भी वह विलास से पीछे नहीं है। पड़ोसी प्रदेश पर आक्रमण करवाने तथा नव-नगर-निर्माण में लालसा का ही प्रमुख हाथ है। लालसा की विलासिता के सम्मुख तो विलास भी मात खा जाता है। वह उसे शत्रु-सेनापति से प्रणय-भीख माँगते हुए देखकर भी उसके विरुद्ध कुछ नहीं करता। जिस तरह कामना, विलास के हाथ की कठपुतली बन कर अपना व्यक्तित्व खो बैठती है उसी प्रकार विलास भी लालसा को अपना कर आत्म-गौरव से वञ्चित हो जाता है। लालसा अपने साथ विलास को भी ले डूबती है।

करुणा

'कामना' नाटक में करुणा चरित्र का विकास अपेक्षाकृत स्वल्प होने पर भी उसका चित्रण बड़ा मर्मस्पर्शी है। वह शान्तिदेव की बहिन है। शान्देिव की मृत्यु के पश्चात लालसा उसकी समस्त सम्पत्ति पर अधिकार कर लेती है। करुणा द्वीप में नितान्त अकिञ्चन एवं उपेक्षित जीवन व्यतीत करती है। द्वीप में 'जीवन के समस्त प्रश्नों के मूल में अर्थ का प्राधान्य' हो जाने के कारण उसे जङ्गली फलों पर ही निर्वाह करना पड़ता है। वह सन्तोष के समक्ष अपनी दयनीय दशा का हृदय द्रावक वर्णन करती हुई कहती है—"मैं अपनी निर्धनता के आँसू पीकर सन्तोष करती हूँ और लौटकर इसी कुटीर में पड़ रहती हूँ।"

समस्त द्वीप में करुणा की दयनीय दशा से द्रवित होकर उसके प्रति सच्ची सहानुभूति करने वाला व्यक्ति केवल सन्तोष है। वह उसे अपनी बहिन बनाकर उसके दुःखों में हाथ बटाने का वचन देता है। सन्तोष अपने शारीरिक कष्टों की किञ्चित परवाह न कर उसके खेतों में काम करता है। करुणा भी सन्तोष के प्रति बड़ा ममत्व रखती है। सन्तोष के घायल होने पर वह उसे चिकित्सक के यहाँ अनेक कठिनाइयों का सामना करती हुई लेजाती है। द्वीप के विलासी और स्वार्थी युवक करुणा और सन्तोष की दुःखपूर्ण परिस्थिति से लाभ उठाना चाहते हैं। क्रूर, सन्तोष की चिकित्सा के बहाने उसके रोग को बढ़ाकर उससे लंबी रकम ऐंठने की चेष्टा करता है और दम्भ, करुणा को प्रमदा के देवदासी दल में सम्मिलित करने का कुचक्र रचता है। विवेक की सहायता से दोनों के प्राण और सम्मान की रक्षा होती है।

नाटकीय दृष्टि से करुणा का चरित्र अत्यन्त सामान्य कोटि का है। नाटक के वस्तु—विकास में उसकी जीवन घटनाओं का विशेष योग नहीं है और सन्तोष के चरित्र को छोड़कर नाटक के किसी अन्य प्रधान पात्र के चरित्र विकास में भी उसका प्रभाव नहीं है। नाटककार ने वस्तुतः नवीन सभ्यता के विकास में सात्विक नारी-जीवन की कष्टमय स्थिति का मार्मिक निदर्शन करुणा के चरित्र में कराया है। करुणा के कष्टमय जीवन का हृदयग्राही प्रत्यक्षीकरण होने से वह सामाजिकों की सहानुभूति प्राप्त करने में यथार्थतः पूर्ण सफल है।